CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5016

श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचित

12.5

स्वयंभूस्तोत्र

संस्कृत हिंदी टीका सहित

मूल्य ३) रु१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1516

श्रीसमन्तभद्रस्वामि विरचित

स्वयंभूस्तोत्र

संस्कृत टीकाकार

श्री प्रभाचन्द्राचार्य

हिन्दी टीकाकार एवं सम्पादक

पं० पन्ना लाल जी साहित्याचार्य सागर

प्रकाशक

ब्र० सूरजमल जैन — अधिष्ठाता

श्री शांतिवीर दि० जैन संस्थान शांतिवीर नगर [महावीरजी]

वीर निर्वाण संवत् २४९५

प्रथम संस्करण १००० मूल्य ३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत स्वयंभूस्तोत्र के द्रव्यप्रदाता

५२५) श्री० सेठ पारसमल जी सोहन लाल जी पहाड़िया कलकत्ता

५०१) श्री० धर्म पत्नी श्री सेठ मिश्री लाल जी सेठी कलकत्ता

५००) श्री० मातेश्वरी श्री कल्याण मल जी झांझरी कलकत्ता

मुद्रक : —
महेन्द्र कुमार जैन "महेश" शास्त्री
श्री आ० शांतिसागर सिद्धान्त प्रकाशिनी
संस्था- शांतिवीर नगर (श्री महावीर जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

स्तुति का स्वरूप तथा प्रयोजन----

जब तक यह जीव शुक्लध्यान की उस भूमिका में नहीं पहुंच जाता जिसमें कि पूज्य पूजक अराध्य-अराधक का विकल्प दूर हो जाता है तब तक पूज्य के प्रति राग का भाव नियम से होता है। उस भक्तिसम्बन्धी राग को प्रकट करने के लिये यह जीव पूज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। उस कृतज्ञता को प्रकट करने के अनेक मार्गों में स्तुति भी एक मार्ग है। 'णमोअरहंताणं' आदि महामन्त्र इसी स्तुतिमार्ग का एक उद्घोष है। विद्यानन्द स्वामी ने कहा है--- **'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'** --सत्पुरुष किये हुए उपकार को नहीं भूलते। प्राकृत दशभक्तियों के रूप में कुन्दकुन्द स्वामी ने तथा संस्कृत दशभक्तियों के रूप में पूज्यपाद स्वामी ने इसी स्तुतिमार्ग को प्रकट किया है।

स्तुति करने का आन्तरिक प्रयोजन 'तद्गुणलब्धये' है। आराध्य में जो गुण हैं वे मुझ आराधक को भी प्राप्त हो जावें यही एक प्रयोजन स्तुति करने का रहता है। आराध्य के अनन्तगुणों का समावेश वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता इन तीनों गुणों में हो जाता है। यह गुणत्रय मुझे प्राप्त हो इसी उद्देश्य से ज्ञानी जीव स्तुति या आराधना करते हैं। इसके सिवाय किसी सांसारिक फल की अभिलाषा से यदि स्तुति होती है तो वह सम्यक् स्तुति नहीं है। जिस स्तुति के अन्दर भोगोपभोग की प्राप्ति का लक्ष्य है वह वास्तव में शुभोपयोग का भी विषय नहीं है। समन्तभद्र स्वामी के द्वारा रचा हुआ यह स्तोत्र आन्तरिक शुद्धि का प्रमुख कारण है।

स्तोत्र का नाम--

भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्युट पूना से प्राप्त इसकी एक हस्त लिखित प्रति के पुष्पिका वाक्य में लिखा है--**'इति श्री समन्तभद्राचार्यविरचितं चतुर्विंशति जिन स्तोत्रं समाप्तम्'** इस पुष्पिका वाक्य से तथा स्तोत्र की रचना से प्रतीत होता है कि इस स्तोत्र का वास्तविक नाम **'चतुर्विंशति जिन स्तोत्र'** है। पीछे चल कर जैसे स्तोत्र के प्रथम पद से आदिनाथ स्तोत्र का नाम **'भक्तामरस्तोत्र'** और पार्श्वनाथ स्तोत्र का नाम **'कल्याण मन्दिर स्तोत्र'** चल पड़ा उसी प्रकार इस स्तोत्र का नाम **'स्वयंभूस्तोत्र'** चल पड़ा। एक स्वयंभूस्तोत्र आचार्य पद्मनन्दी का भी है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस श्लोक हैं उससे पार्थक्य सिद्ध करने के लिये इस स्तोत्र का नाम **'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'** चल पड़ा। वैसे संस्कृत टीकाकार के इस उल्लेख के अनुसार **'स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुध्य अनुष्ठाय वानन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयंभूः'**--स्वयं अर्थात् परोपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जान कर और तदनुरूप अनुष्ठान कर जो अनन्त-चतुष्टय रूप से उत्पन्न होते हैं वे स्वयंभू कहलाते हैं। यहां टीकाकार के मन्तव्यानुसार स्वयंभू शब्द तीर्थंकर का वाचक है। इसलिये 'स्वयंभूस्तोत्र' का अर्थ भी तीर्थंकरों का स्तोत्र होता है। जैन धर्म में ऐसे स्वयंभू चौबीस माने गये हैं। यह चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा भरत और ऐरावत क्षेत्र में दशकोड़ा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोडीसागर प्रमाण वाले प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में होती है। ऐसे अनन्त चौबीस तीर्थंकर भूतकाल में हो चुके हैं और भविष्यत्काल में होते रहेंगे। उन सबका स्मरण रख सकना क्षायोपशमिक ज्ञान के वश की बात नहीं है। संक्षेप में एक भूतकाल की, एक वर्तमान काल की और एक भविष्यत्काल की ऐसी तीन चौवीसियों की नामावली स्मरण में रक्खी जा सकी है। अढ़ाई द्वीप सम्बन्धी पांच भरत और पांच ऐरावत, इस तरह दश क्षेत्रों की त्रिकाल सम्वन्धी चौबीसी की अपेक्षा तीस चौबीसियां भी प्रसिद्ध हैं। विदेह क्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थंकर अथवा उत्कृष्टता की अपेक्षा १६० तीर्थंकर चौबीसी की उक्त गणना से परे हैं।

स्तोत्र के आराध्य चौबीस तीर्थंकर—

वास्तव में तीर्थंकर महोपकारी पुरुष हैं। चतुर्गति के चक्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाले इस जीव को इस परिभ्रमण से बचाने वाला मार्ग इन तीर्थंकर भगवन्तों ने ही बताया है अतः उनके प्रति भक्ति के उद्गार निकलना स्वाभाविक है। वर्तमान काल सम्बन्धी चौबीसी में— १ वृषभ २ अजित ३ शंभव ४ अभिनन्दन ५ सुमति ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्व ८ चन्द्रप्रभ ९ पुष्पदन्त या सुविधिनाथ १० शीतल ११ श्रेयोनाथ १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनन्त १५ धर्म १६ शान्ति १७ कुन्थु १८ अर १९ मल्लि २० मुनिसुव्रत २१ नमि २२ नेमि २३ पार्श्व और २४ वर्द्धमान (महावीर सन्मति, वीर, अतिवीर) ये चौबीस तीर्थंकर आते हैं। इनका स्तवन इस 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' में हुआ है। उक्त चौबीस तीर्थंकर तीसरे काल के अन्त से लेकर चतुर्थ काल के अन्त तक हुए हैं। सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण और लोकप्रख्यात पुरुष थे। भगवान् वृषभ देव का ऋग्वेद की ऋचाओं तथा भागवत और अन्य अनेक पुराणों में उल्लेख आता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का वर्णन भारतीय साहित्य में यत्र तत्र उपलब्ध है ही। जो तीर्थ-धर्म की आम्नाय चलाते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। इस पद की प्राप्ति के लिये दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तन करना होता है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता के साथ लोककल्याण करने की प्रबल भावना जब इस कर्मभूमिज मनुष्य के होती है तब उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। यह पद महा दुर्लभ है तथा अत्यन्त निकट भव्यजीवों को ही प्राप्त होता है। इस पद के धारक जीव एक साथ १७० से अधिक नहीं हो सकते।

स्तोत्र का आन्तरिक परीक्षण—

इस चतुर्विंशति जिनस्तोत्र के संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इस स्तोत्र को 'यो निःशेषजिनोक्त धर्मविषयः' —समस्त जैन सिद्धान्त को विषय करने वाला कहा है अर्थात् इसमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग — इन चारों अनुयोगों का मथितार्थ संनिविष्ट किया गया है। इस स्तोत्र के पाठ से मात्र भगवान् की भक्ति ही प्रकट नहीं होती परन्तु जैन सिद्धान्त या जैनदर्शनका मौलिक रूप भी सामने आता है। स्तुति किसकी और किस उद्देश्य से करना चाहिये? इन सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का समाधान इस स्तोत्र में मिलता है ।

अठारहवें अरनाथ के स्तवन में २०, बाईसवें नेमिनाथ के स्तवन में १०, चौबीसवें वर्धमान-स्वामी के स्तवन में ८ और शेष इक्कीस तीर्थंकरों के स्तवनों में प्रत्येक के पांच पांच श्लोक हैं । सब मिला कर पूरे स्तोत्र में १४३ श्लोक हैं। ये श्लोक वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र ' अनुष्टुप्, वैतालीय, शिखरिणी, उग्दता और आर्यगीति आदि छन्दों में रचे गये हैं। उपमा रूपक आदि अर्थालंकारों तथा अनुप्रास और यमक नामक शब्दालंकारों के प्रयोंग ने रचना की शोभा में चार चांद लगा दिये हैं। तात्पर्य यह है कि यह स्तोत्र जहां अर्थ की दृष्टि से उच्च कोटि का है वहां भाषा की दृष्टि से भी उच्च कोटी का है।

इस स्तवन में कितने ही तीर्थंकरों के स्तवन वर्णात्मक हैं अर्थात् उनमें उन तीर्थंकरों की जीवन घटनाओं का वर्णन प्राप्त होना है जैसे प्रथम, सोलहवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थंकरों के स्तवन तथा कितने ही तीर्थंकरों के स्तवन जैन धर्म के सिद्धान्त एवं दर्शन की विवेचना करने वाले हैं। जैसे पांचवें नौवें, ग्यारवें ' बारहवें, तेरहवें और अठारहवें तीर्थंकरों के स्तवन। समन्तभद्र स्वामी स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रवल समर्थक थे, न्याय शास्त्र के वे आद्य उपस्कर्ता कहे जाते हैं। उन्होंने अपने देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा) में स्याद्वाद का जो समर्थन किया है उसकी यथा कथंचित् पुट हम स्तोत्र में भी प्राप्त करते हैं। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों की उपादेयता, भवितव्यता का समर्थन बाह्यतप और अन्त-रङ्गतप की उपयोगिता, अहिंसा की आवश्यकता जैनतपस्या का प्रयोजन और नयों का पारस्परिक अविरोध आदि अनेक विषयों का समन्वयात्मक वर्णन आचार्य महोंदय ने इस स्तोत्र में किया है। स्तवन करते समय किसके लिये कब कौन विशेषण उपयुक्त हो सकता है इसका पूरा पूरा ध्यान रक्खा हैं।

(१) ऋषभनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए द्वितीय श्लोक में भगवान् को 'प्रजापति, विशेषण दिया है। 'प्रजापति' विशेषण की सार्थकता को प्रकट करते हुए उन्होंने जो चित्र खींचा है वह कितना मनोरम है ? कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से उस समय की जनता आजीविका के बिना दुखी हो गई। भूख प्यास की बाधा से उस समय की जनता जीवित रह सकेगी, इसका संदेह आ पड़ा। भगवान् वृषभदेव ने जीवित रहने की इच्छुक जनता को असि मषी, कृषि आदि षट् कर्मों का उपदेश देकर जीवित रक्खा। उन्होंने राजा प्रजा देश नगर आदि का विभाग कराया। तात्पर्य यह है कि वे सहीमायने में प्रजापति हुए। प्रजापति—ब्रह्मा की तरह उन्होंने सृष्टि की तात्कालीन व्यवस्था की। तृतीय श्लोक में भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए उन्हें 'सहिष्णुः' और 'अच्युतः' इन दो महत्वपूर्ण विशेषणों से अलं-कृत किया है। इन विशेषणों में उनके तपश्चरण काल की वह घटना छिपी हुई है। जिसमें एक वर्ष तक निराहार रहने का दुःख उन्होंने सहन किया था। छह माह का अनशनयोग तो उन्होंने बुद्धिपूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया ही था और छह माह तक आहार की शास्त्रोक्त विधि न मिलने के कारण एक वर्ष तक क्षुधा परिषह की बाधा सहनी पड़ी परन्तु उन्होंने समताभाव से यह बाधा सहन की। उनके साथ दीक्षा लेने वाले बारह हजार राजा भूख प्यास की बाधा न सह सकने के कारण कुछ ही समय में गृहीतव्रत से च्युत हो गये पर भगवान् वृषभदेव अपने व्रत में अच्युत ही रहे। कोई भी बाधा उन्हें गृहीतव्रत से च्युत नहीं कर सकी। भगवान् ने जनता को हितोपदेश कब दिया? इसका सुन्दर उत्तर चतुर्थ श्लोक में दिया है — जब उन्होंने आत्मध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्मदोषों के मूल कारण को भस्म कर दिया अर्थात् अपने आप को जब सर्वथा निर्दोष बना लिया तब उन्होंने इच्छुकजनों के लिये तत्व का उपदेश दिया। आत्म शुद्धि के विना दूसरों को उपदेश देना उपदेश की बिडम्बना मात्र है। स्तुति के बाद उसके फलस्वरूप आचार्य महाराज किसी लौकिक फल की आकांक्षा न रख कर यह इच्छा प्रकट करते हैं-- 'पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो' भगवान् वृषभदेव हमारे चित्त को पवित्र कर दें--उसे मोह और ममता से रहित करदें।

(२) अजितनाथ भगवान् के आजित नाम की सार्थकता बतलाते हुए प्रथम श्लोक में कहा गया है– मित्रों की दो टोलियां खेल रही हैं; एक टोली के नेता थे अजितनाथ और दूसरी टोली के दूसरे लोग। जिस टोली के नेता बालक अजितनाथ थे उस टोली की जीत होती है। उस जीत से उनके साथियों के मुखारबिन्द विजयोन्मत्त हो जाते हैं और अपने नेता का अजित नाम रखते हैं। इसी स्तवन के अन्त में अजितनाथ भगवान् की जिन विशेषताओं का वर्णन किया गया है वे बहुत ही आकर्षक हैं। आचार्य महराज ने लिखा है — जो ब्रह्मनिष्ठ है— आत्मस्वरूप में स्थित है, जिन्हें शत्रु और मित्र बराबर हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान से कषाय --- रागद्वेष रूपी दोषों को बिलकुल अलग कर दिया है अर्थात् जिनका ज्ञान, ज्ञान में हो प्रतिष्ठित हो गया हैं; जिन्होंने आत्मलक्ष्मी--- ज्ञानदर्शन के उत्कृष्ट विकासरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है तथा जिनकी आत्मा अजित है---- किसी से जीती नही जा सकती वे अजितनाथ भगवान् हमें जिन लक्ष्मी प्रदान करें— हमें तीर्थंकर बनावें।

(३) शंभवनाथ नाम की सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि जो अनित्य है जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो अहंकार से सना हुआ है, जो मिथ्या अध्यवसाय रूपी दोषों में आसक्त है और इन सब के कारण जो जन्म जरा तथा मृत्यु से दुखी हो रहा है ऐसे संसार को आपने अविनाशी— निर्दोष शान्ति प्राप्त कराई है इसलिये आप शंभव हैं-- शं-- शान्ति अथवा सुख के भव—उत्पादक हैं। निश्चय नय से आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, कर्मों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब बन्ध नहीं तब मोक्ष कहां से आया? इस प्रकार निश्चय नय के एकान्त में बन्ध, मोक्ष और उसके फल की व्यवस्था नहीं बनती। परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध और मोक्ष दोनों बन जाते हैं। भगवान् शंभवनाथ ने न केवल निश्चय नय का उपदेश दिया था किन्तु साथ व्यवहार नय का भी उपदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिया था इसलिये उनके मत से दोनों की संगति बैठती है।

(४) अभिनन्दनजिनेन्द्र का स्तवन करते हुए आचार्य ने कहा है कि आपने प्रारम्भ में क्षमा रूपी सखी से सहित दया रूपी वधू का आश्रय लिया और अन्त में शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये वाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की। यहां दया को वधू और क्षमा को उसकी सखी बतला कर आचार्य ने स्पष्ट किया है कि दया की रक्षा क्षमा के बिना नहीं हो सकती तथा शुक्लध्यान की पूर्णता के लिये निर्ग्रन्थवृत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी स्तवन के अन्त में बताया है कि अनुबन्ध — आसक्तपना मनुष्य के संताप को उत्पन्न करने वाला है, वैषयिक सुख से तृष्णा की वृद्धि होती है, सुख की स्थिति प्राप्त नहीं होती ऐसा आपका मत है और यहीं मत लोक कल्याण कारी है इसलिये सत्पुरुषों की गति—आश्रय आप ही हैं।

(५) सुमतिजिनेन्द्र के स्तवन में दार्शनिक पद्धति को अपनाते हुए कथन किया गया है कि संसार के पदार्थ एक भी हैं अनेक भी हैं, सत् भी हैं, असत् भी हैं नित्य भी हैं अनित्य भी हैं विधिरूप भी हैं और निषेधरूप भी हैं। विवक्षा से इन सब धर्मों की सिद्धि होती है। यदि पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जावे तो उसमें उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते तथा क्रिया और कारक की भी व्यवस्था नहीं बन सकती। असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता बुझा दिये जाने पर यद्यपि दीपक का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है परन्तु सर्वथा अभाव हुआ नहीं। जिस पुद्गल का पहले प्रकाश पर्याय में सद्भाव था उसी पुद्गल का अब अन्धकार पर्याय में सद्भाव है।

(६) पद्मप्रभ भगवान् के स्तवन में रूपक ओर उपमालंकार की पुट देते हुए कहा है कि जिस प्रकार कमलों को विकसित करने के लिये पद्मबन्धु – सूर्य प्रकट होता है उसी पूर्वक भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित—आनन्दित करने के लिये आप प्रकट हुए है। पहले आप अटूट लक्ष्मी और अवधि ज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते थे परन्तु वाद में आप सार्वज्ञलक्ष्मी से सुशोभित एक सरस्वती को ही धारण करने वाले रह गये। यहां यह भाव भी तिरोहित है कि आप अरहन्त अवस्था में अष्ट प्रतिहार्य रूप लक्ष्मी और केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी को धारण करते थे परन्तु विमुक्त होने पर सिर्फ सर्वज्ञता से युक्त केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते हैं क्योंकि सिद्धावस्था में प्रातिहार्यरूप लक्ष्मी का सद्भाव नहीं रहता।

(७) सुपार्श्वनाथ भगवान् के स्तवन में कितनी ही अनूठी बातें कही गई हैं। प्रथम तो यह कहा गया है कि स्वास्थ्य वह है जो अन्त से रहित हो, भोग स्वार्थ—स्वास्थ्य नहीं है क्योंकि वह भंगुर हैं— नश्वर हैं, तृष्णा को बढाने वाले है तथा तृष्णावर्धक होने के कारण उनसे संताप की शान्ति नहीं हो सकती। फिर शरीर की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कोई चेतन प्राणी किसी यन्त्र को लिये फिरता है उसी प्रकार जीव इस अचेतन शरीररूपी यन्त्र को लिये फिरता है। यह शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्लानि युक्त है, दुर्गन्धित है, विनाशीक है और संताप करने वाला है इसलिये इसमें स्नेह करना व्यर्थ है। मनुष्य को सब से अधिक स्नेह अपने शरीर से रहता है। उसका स्नेह छूट जाने पर अन्य सब का स्नेह अनायास छूट जाता है। इसी स्तवन में कहा गया है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों से उत्पन्न होने वाली भवितव्यता अलङ्घ्य है— उसे कोई टाल नहीं सकता। अहंकार से पीडित संसार का प्राणी अन्य लोगों के साथ मिल कर भी इस भवितव्यता को टाल नहीं सकता। इसी स्तोत्र में यह भी कहा गया है कि संसार का प्राणी मृत्यु से डरता है पर उससे छुटकारा नहीं होता और नित्य ही मोक्ष की इच्छा करता है पर उसकी प्राप्ति नहीं होती फिर भी अज्ञानी प्राणी भय और काम के वशीभूत हुआ दुःख उठाता रहता है।

(८) चन्द्रप्रभ भगवान् की वादशक्ति का महत्वपूर्ण वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुन कर मदस्रावी हाथी मदरहित हो जाते हैं उसी प्रकार उनकी वाणीरूपी सिंह गर्जना से अपने पक्ष के समर्थन सम्बन्धी गर्व से अवलिप्त वादी भी मदरहित—गर्वरहित हो जाते थे। अन्त में चन्द्रप्रभ भगवान् को चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा गया है कि 'पूतात्पवित्रो भगवान् मनो मे' वे पवित्र भगवान् मेरे मन को पवित्र करें।

(९) सुविधि जिनेन्द्र का यह स्तवन दार्शनिक पद्धति से भरा हुआ है। इसमें तद्, अतद्, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि विरोधीभावों का समन्वय करने के लिये 'स्यात्' इस निपात की महिमा दिखाई गई है। कहा गया है कि पदार्थ नित्य है क्यों कि उसमें 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति होती रहती है। और पदार्थ नित्य नहीं भी है क्यों कि उसमें 'यह अन्य है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। पदार्थ का यह नित्य और अनित्यपना विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों से निमित्तनैमित्तिकभाव इसी प्रकार का है।

(१०) शीतलनाथ भगवान् की वाणी की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे निष्कलङ्क भगवान्! शान्तिरूपी जल से गर्भित आपकी वाणी जितनी शीतल है उतना शीतल न तो चन्दन है, न चन्द्रमा की किरणें हैं, न गंगा का पानी और न मोतियों की मालाएं हैं। जैन तपश्चरण का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि कितने ही तपस्वी संतान, धन और उत्तरलोक—मरण के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोक की आकाङ्क्षा से तपश्चरण करते हैं। परन्तु आपने जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से मन वचन काम की प्रवृत्ति को रोका है—तपश्चरण किया है।

(११) श्रेयोनाथ भगवान् के स्तवन में गौण और मुख्य की विवक्षा करते हुए दार्शनिक पद्धति से विरोधी भावों का वर्णन किया हैं। साथ ही यह कहा है कि आप एकान्त दृष्टि का विरोध करने वाली अनेकान्त दृष्टिरूपी बाणों के द्वारा मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर केवल ज्ञान रूपी विभूति के सम्राट् हुए हैं इसलिये आप मेरे द्वारा स्तुति के योग्य हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१२) वासुपूज्य भगवान् के स्तवन में उनकी समता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि आप चूंकि वीतराग हैं इसलिये पूजा से आपको प्रयोजन नहीं है और वैर से रहित हैं इसलिये निन्दा से आपको द्वेष नहीं है तथापि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापरूपी कालिमा से बचा लेता है अर्थात् जब हम आपके माध्यम से अपने वीतराग स्वरूप की ओर लक्ष्य करते हैं तव स्तुति और निन्दा में हमारे साम्यभाव आ जाता है। इसी स्तवन में कहा गया हैं कि आपकी पूजा करते समय जो आरम्भजनित अल्प दोष होता है उससे हानि नहीं होती, जिस प्रकार कि अमृत के समुद्र में विष की कणिका से हानि नहीं होती। अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग—उपादान और निमित्त कारण के द्वन्द्व को सुलझाते हुए कहा है—अभ्यन्तर—उपादान जिसका मूल कारण है ऐसी गुण और दोष की उत्पत्ति का जो वाह्य निमित्त है वह अध्यात्म में लीन रहने वाले आपके लिये गौणभूत है, आपके लिये तो केवल अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है। कार्य की उत्पत्ति का मूल कारण उपादान है। प्रारम्भ में उपादान की शक्ति को विकसित करने के लिये बाह्य—निमित्त कारण भी अपेक्षित रहता है परन्तु जब यह जीव अध्यत्म- (अध्यात्म) वृत्त हो जाता है—स्वरूपस्थ अवस्था में पहुंच जाता है तब उसके लिये केवल उपादान ही पर्याप्त हो जाता है। निमित्त का विकल्प उसकी दृष्टि से हट जाता है। परन्तु इस कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि कार्य की उत्पत्ति मात्र बाह्य या मात्र अभ्यन्तर कारण से होती है किन्तु दोनों कारणों की समग्रता ही कार्य की जनक होती है। यह द्रव्य का स्वभाव है, इसके बिना मोक्ष की विधि नहीं बन सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिये निकट भव्यपना आदि आत्मा की योग्यतारूप अन्तरङ्ग निमित्त और कर्मभूमिज मनुष्य के द्वारा तपश्चरण आदि बाह्य निमित्त के मिलने पर ही मोक्ष की सिद्धि होती है किसी एक से नहीं। यह वात जुदी हैं कि जब इस जीव को मुक्त होने का अवसर आता हैं तब यह नियम से कर्मभूमि का मनुष्य ही होता है पर इतने मात्र से निमित्त कारण की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं हो जाती।

(१३) विमलजिनेन्द्र के स्तवन में नयों की पारस्परिक निरपेक्षता का निरसन करते हुए कहा गया है कि यदि ये नय परस्पर में सापेक्ष रहते हैं तो स्व और पर का उपकार करते हैं। जिस प्रकार रस से—पारे से अनुविद्ध धातुएं अभिमत फल सिद्ध करती हैं उसी प्रकार स्याद्वाद से चिन्हित नय अभिप्रेतगुण को सिद्ध करने वाले होते हैं।

(१४) अनन्त नाथ का वास्तविक नाम आचार्य को 'अनन्तजित्' इष्ट है। उसी की अन्वर्थता बतलाते हुए आपनें कहा है कि अनन्त दोषों का आशय ही जिसका शरीर है तथा जो हृदय में अत्यन्त संसर्ग को प्राप्त हो रहा है ऐसे मोहरूपी ग्रह को अनन्त कहते हैं उसको आपने जीत लिया है इसलिये आप अनन्तजित् कहलाते हैं। कषायरूपी शत्रु बड़े प्रभावी हैं—आत्मीय गुणों को नष्ट करने वाले हैं उनको आपने इस तरह नष्ट किया है कि उनका नाम भी शेष नहीं रहने दिया तथा कामरूपी रोग को जो कि अत्यन्त शोषण करने वाला है समाधिरूपी औषध के गुणों से विलीन कर दिया है। जिसमें परिश्रम ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पानी है तथा भय ही जिसमें तरङ्गें हैं ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने अपरिग्रहरूपी ग्रीष्म कालीन सूर्य के तेज से सुखा दिया है इसलिये निर्वृतिधाम—निर्वाणमन्दिर आपको प्राप्त हुआ है। आपके विषय में जो अच्छा अभिप्राय रखता है वह स्वयं ही सौभाग्य को प्राप्त होता है और जो आपके विषय में द्वेष रखता है वह व्याकरण में प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों के समान विनाश को प्राप्त हो जाता है फिर भी आप शत्रु और मित्र दोनों में अत्यन्त समान रहते हैं।

(१५) धर्मनाथ भगवान् समव सरण में विद्यमान हैं बारह सभाओं में स्थित देव और मनुष्यों के समूह से घिरे हुए धर्मनाथ ऐसे सुशोभित होते हैं जैसे आकाश में ताराओं से घिरा हुआ निर्मल पूर्ण चन्द्र शोभित होता है। इस तरह उपमालंकार के द्वारा उनकी निःस्पृहता की झांकी उपस्थित करते हुए कहा है कि यद्यपि आप अष्टप्रातिहार्यरूपी विभव से विभूषित हैं तथापि शरीर से भी विरत हैं आपने मनुष्य तथा देवों को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया फिर भी उपदेश का फल प्राप्त करने की इच्छा से आतुर नहीं है।

(१६) शांतिनाथ भगवान् के स्तवन में उनके गृहस्थ जीवन और मुनिजीवन की पूरीझांकी एक ही श्लोक में उपस्थित की गई है। जिन्होंने पहले शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा समस्त राजाओं के चक्र–समूह को जीता था और अब ध्यानरूपी चक्र के द्वारा दुर्जयमोहरूपी चक्र को जीता है तथा उसके फलस्वरूप महोदय को प्राप्त हुए हैं। अन्त में एक बात बहुत सुन्दर कही कि जिन्होंने अपने दोषों को शान्तकर आत्मशान्ति प्राप्त की है और इसके बाद ही जो शरणागत मनुष्यों के लिये शरणदाता हुए हैं वे शांतिनाथ भगवान् हमारे सांसारिक क्लेशों का भय शांत करने के लिये मुझे शरणदाता हों। जिसकी आत्मा स्वयं अशान्त है वह दूसरों को क्या शान्ति दे सकेगा ?

(१७, कुन्थुनाथ जिनेन्द्र के स्तवन में अनेक मार्मिक सूक्तियां हैं वे कहते हैं कि तृष्णारूपी ज्वालाएं इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, इष्ट इान्द्रयों के विषयों से इनकी वृद्धि ही होती है शान्ति नहीं, इसलिये आप विषय सुख से पराङ्मुख हुए हैं। बाह्यतप की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है कि आपने अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के लिये ही अत्यन्त दुश्चर बाह्यतप किया है। अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के विना बाह्यतप कोई विशेष लाभदायक नहीं है—मोक्ष का साधक नहीं है, आपने चारघातिया कर्मों को रत्नत्रयरूपी प्रचण्ड अग्नि में होम दिया है इसलिये आप मेघ रहित आकाश में सूर्य की तरह सुशोभित हुए थे।

(१८) अर नाथ भगवान् का स्तवन अनेक विचित्रोक्तियों से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में ही कहा गया है कि स्तुति तो उसे कहते है जिसमें थोड़े से गुणों को बढ़ाकर कहा जावे। परन्तु भगवान्! आपके गुण अनन्त है, वे कहे ही नहीं जा सकते फिर आपकी स्तुति कैसे हो सकता है ? फिर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूंकि आपका नाम मात्र लेना पवित्र कर देता है इसलिये कुछ कहते हैं। जो कषायरूपी योद्धाओं की सेना से सहित है ऐसे मोहरूपी पापी शत्रु को आपने रत्नत्रय रूप शस्त्रों के द्वारा पराजित किया है। जो आगामी काल और वर्तमान कालमें दुःखों की योनि है—कारण है ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने विद्यारूपी नौका के द्वारा पार किया है। अनेकान्त की महिमा का उद्घोश करते हुए कहा है कि जो दूसरे के दोष देखने में जागरूक हैं पर अपने दोषों के विषयमें नेत्र बन्द कर लेते हैं वे बेचारे क्या कर सकते हैं ? वे आपके मत के अपात्र हैं।

(१९) मनोहर छन्द द्वारा मल्लिनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए उनकी सर्वज्ञता का जयघोष किया गया है तथा कहा गया है कि जिनकी शुक्लध्यान रूपी अग्नि ने अनन्त पापपुंज को भस्म कर दिया है और इसतरह जो कृतकृत्यता को प्राप्त हो चुके हैं उन जिनेन्द्र श्रेष्ठ मल्लिनाथ की शरण को मैं प्राप्त हुआ हूं।

(२०) मुनिसुव्रतनाथ के स्तवन में उनकी शारीरिक सुषमा का वर्णन करने के पश्चात् अन्तिम पद्य में कहा है कि चूंकि आपने निरुपमयोग के बल से—ध्यान की सामर्थ्य से अष्टकर्मरूपीकलंक को बिलकुल दग्ध कर दिया है इसलिये आप मुक्ति सम्बन्धी सुख से युक्त होते हुए संसार को भी उपशान्त करने वाले हों।

(२१) भगवान् नमिनाथ के स्तवन में अहिंसा की महिमा प्रकट करते हुए कहा है कि संसार में प्राणियों की अहिंसा परमब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु वह अहिंसा गृहस्थाश्रम में नहीं होती जिसमें कि अणुमात्र भी परिग्रह रहता है, इसलिये उस अहिंसा की सिद्धि के लिये परम दयालु होकर आपने दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया है तथा विकार उत्पन्न करने वाले किसी वेष या उपाधि में आप रत नहीं हुए हैं।

(२२) नेमि जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए कहा गया है कि जिन्हें अनेक महर्षि मन्त्र से मुखर होते हुए प्रणाम करते हैं। नारायण और बलभद्र, स्वजन की भक्ति से प्रसन्न चित्त होकर जिनके चरण कमलों को प्रणाम करते थे। जो विद्याधरियों से युक्त शिखरों से अलंकृत है तथा जिसके तटपर घनघटा छाई हुई है ऐसे ऊर्जयन्त गिरिपर—गिरनार पर्वत पर इन्द्रने जिनकी यशोगाथा लिखी थी उन नेमिनाथ भगवान् की विरुदावली इस स्तवन में बड़े सुन्दर ढंग से अंकित को गई है।

(२३) पार्श्वनाथ भगवान् के स्तवन में असुरकृत उपसर्ग का ऐसा जीवन्त वर्णन है कि उसका दृश्य आंखों के सामने झूलने लगता है।

(२४) वर्धमान स्वामी का स्तवन करते हुए आचार्य ने अन्त्ययमक के द्वारा अपनी उस कवित्व शक्ति की जिसका कि पूरा प्रदर्शन स्तुतिविद्या—जिनशतक में किया गया है थोड़ी सी बानगी प्रकट करदी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह आन्तरिक परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तोत्र बहुत ही महत्वपूर्ण तथा सार गर्भित है। समन्तभद्रस्वामी की विशुद्ध आत्मा से निःसृत एक एक पद्य हृदय में भारी आनन्द की उद्भूति करता है।

स्तोत्र के रचयिता श्रीसमन्तभद्रस्वामी—

इस 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' के रचयिता श्री समन्तभद्र स्वामी हैं। समन्तभद्र स्वामी दिगम्बराचार्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र तथा तन्त्र आदि सभी विद्याओं में निपुण होने के साथ ही साथ आप वाद कला में अत्यन्त पटु थे। काशीनरेश के सामने स्वामी समन्तभद्र ने स्वमुख से जो अपना परिचय दिया था वह मात्र गर्वोक्ति नहीं किन्तु तथ्योक्ति थी। परिचय देते हुए उन्होंने कहा था-१ मैं आचार्य हूं, कवि हूं, शास्त्रार्थी हूं, पण्डित हूं, ज्योतिषी हूं, वैद्य हूं, मान्त्रिक हूं, तान्त्रिक हूं, इस संपूर्ण पृथ्वी पर मुझे वचन सिद्धि है, अधिक क्या कहूं मैं सिद्ध सारस्वत हूं।

आप परीक्षा प्रधान विद्वान् थे। आप्तमीमांसा के प्रारम्भिक श्लोकों से इस बात की पुष्टि होती है—

देवागमनभोयान चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

यही कारण है कि युक्त्यनुशासन की टीका के अन्तमें विद्यानन्द स्वामी ने आपको 'परीक्षेक्षण'—परीक्षा रूपी नेत्र से सबको देखने वाला लिखा है। भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में, वादिराजसूरि ने यशोधर चरित्र में, वादीभसिंह सूरि ने गद्यचिन्तामणि में वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभ

१ आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया--
माज्ञा सिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरित्र में, शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में और भट्टारक सकलकीर्ति ने पार्श्वनाथ चरित्र में बड़ी श्रद्धा के साथ आपका स्मरण किया है। इनके सिवाय अन्य अनेक ग्रन्थकारों ने इनका गुणस्मरण कर अपने ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो में आपकी गौरवगाथा अङ्कित की गई है। विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में उसके रचयिता कविवर हस्तिमल्ल ने आपके वादकथा का यशोगान निम्न श्लोक के द्वारा किया है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाट धूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम् ॥

वादी समन्तभद्र के रहते हुए अतिशय वाचाट धूर्जटिनामक विद्वान् की जिह्वा भी जब कण्ठगर्त का आश्रय लेती है तब दूसरे विद्वानों की तो कथा ही क्या है?

श्रवणबेलगोला के श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित आप्त मीमांसा की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के पुष्पिका वाक्य—

'इति श्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामी-समन्तभद्रमुनेः कृतो आप्तमीमांसायाम्'

से स्पष्ट है कि समन्तभद्र, फणिमण्डलान्तर्गत उरग पुर के राजा के पुत्र थे। छोटी ही अवस्था में संसार से विरक्त होकर आपने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करली थी। दुष्कर्म के उदय से आपको तपस्या काल में भस्मक व्याधि होगई। निर्ग्रन्थ मुद्रा में उस व्याधि का प्रतिकार न देख आपने गुरु से सल्लेखना कराने की प्रार्थना की। परन्तु गुरु दीर्घदर्शी थे, वे बुद्धिमान् समन्तभद्र के द्वारा जैनधर्म की महती प्रभावना की आशा रखते थे अतः उन्होंने सल्लेखनामरण की आज्ञा नही दी। फलतः समन्तभद्र ने निर्ग्रन्थमुद्रा छोड़कर अन्य साधु का वेष रख लिया और स्वेच्छापूर्वक आहार करते हुए विहार करने लगे। विहार करते हुए वे काशी आये। वहां शिवमन्दिर में शिव भोग की विशाल अन्नराशि को देखकर उन्होंने विचार किया कि यदि यह राशि मुझे प्राप्त हो जाय तो इससे मेरी व्याधि शान्त हो सकती है। विचार आते ही वे अपनी चतुराई से शिवमन्दिर में रहने लगे। शिवभोग के उपभोग से धीरे धीरे उनकी व्याधि शान्त हो गई। अन्त में गुप्तचरों के द्वारा काशी नरेश को जब इस बात का पता चला कि यह न शिवभक्त है ओर न शिवजी को शिवभोग अर्पित करता हैं अपितु स्वयं खा जाता है तब वह आग बबूला होता हुआ समन्तभद्र के सामने आया और उनसे उनकी यथार्थता पूछने लगा। समन्तभद्र ने निम्न श्लोक द्वारा अपना परिचय दिया—

'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननैर्ग्रन्थवादी ॥

कांची में मलिनवेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुश नगर में पाण्डुवस्त्र धारण किये, पुण्ड्रोण्ड्र में जाकर बौद्धभिक्षु वना, दशपुर नगर में मिष्टभोजन करने वाला संन्यासी बना, बाराणसी में श्वेत-बस्त्रधारी तसस्वी बना। राजन्! आपके सामने यह दिगम्बर जैन वादी खड़ा है जिसकी शक्ति हो मुझसे शास्त्रार्थ करले।

राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आग्रह किया परन्तु उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि यह मूर्ति समन्तभद्र के नमस्कार को सहन नहीं कर सकती। समन्तभद्र के इस उत्तर से राजा का कौतुक और नमस्कार कराने का आग्रह—दोनों ही चरमसीमा को प्राप्त हो गये। सनन्तभद्र आशु कवि तो थे ही अतः उन्होंने वृषभ आदि चौवीस तीर्थंकरों का स्तोत्र शुरु किया। जब वे आठवें चन्द्रप्रभ भगवान् का स्तवन कर रहे थे तब सहसा शिवमूर्ति फट गई और उसमें से चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति निकल पड़ी। स्तोत्रपूर्ण हुआ। यही स्तोत्र आज स्वयंभूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना से काशी नरेश बहुत प्रभावित हुए और वे जिनधर्म की दीक्षा लेकर समन्तभद्र के शिष्य हो गये। नरेश के साथ अन्य अनेक लोगों ने भी जैन धर्म धारण किया।

समन्तभद्र मात्र संयम से भ्रष्ट हुए थे सम्यग्दर्शन से नहीं इसलिये भस्मकव्याधि शान्त होते ही उन्होंने फिर से निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करली। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर आपने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-सर्वत्र विहार कर जिनधर्म की महिमा स्थापित की। करहाटक नगर में पहुंचने पर वहां के राजा द्वारा पूछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय देते हुऐ कहा—

'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुढक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥'

राजन्! सब से पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिये भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु, ढक्क, कांची, विदिशा आदि स्थानों में जाकर भेरी ताड़ित की। अब बड़े बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूं। मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुआ सिंह के समान घूमता फिरता हूं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्तभद्र स्वामी के द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हुए हैं-

१ स्वयंभूस्तोत्र २ युक्त्यनुशासन ३ आप्तमीमांसा ४ स्तुति विद्या-जिनशतक और ५ रत्नकरण्ड श्रावकाचार-समीचीन धर्मशास्त्र ।

सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं अतः इनके परिचय की आवश्यकता मालूम नहीं होती ।

आप विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं।

स्वयं भूस्तोत्र पर संस्कृत टीका

स्वयंभूस्तोत्र पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। संस्कृत टीकाकार ने इस स्तोत्र की महिमा बतलाते हुए ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

यो निःशेष जिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैःकृतः
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
तद्व्याख्यानमदो यथा ह्यवगतः किञ्चित्कृतं लेशतः
स्थेयांश्चन्द्रदिवाकरावधिबुधप्रह्लाद चेतस्यलम् ॥

यह टीका उन्होंने प्रहलादनामक विद्वान् के लिये लिखी थी। इस स्तोत्र को संस्कृत टीकाकार ने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित समस्त धर्म को विषय करने वाला तथा निर्दोष एवं प्रसाद गुण से युक्त सार्थक पदों के कारण असम-अनुपम कहा है। टीकाकार ने टीका लिखते समय स्तोत्र के कितने ही पाठान्तरों का उल्लेख स्वयं किया है तथा उन पाठान्तरों की व्याख्या भी की है । स्तोत्रगत दर्शन विषय को टीकाकार ने अच्छा स्पष्ट किया है। इस पर एक मराठी में तथा तीन टीकाएं हिन्दी में देखने में आई हैं । माननीय दिवंगत विद्वान् पं० युगल किशोर जी मुख्तार समन्तभद्र साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् रहे हैं। उन्होंने उनके जीवन तथा साहित्य के उद्धार में बड़ा काम किया है। सनन्तभद्र का नाम लेते ही वे गद्‌गद हो उठते थे। कहने लगते थे कि समन्तभद्र ने जैन धर्म की जितनी सेवा की है। उसकी शतांश कृतज्ञता भी हम उनके प्रति प्रकट नहीं कर सके हैं। स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और समीचीन धर्मशास्त्र-रत्नकरण्डश्रावकाचारपर उन्होंने उत्तम टीकाएं तथा भाष्य लिखा हैं। स्तुतिविद्या की हिन्दी टीका यद्यपि मैंने लिखी है पर गवेषणापूर्ण भूमिका आपकी ही लिखी हुई है। उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र पर विस्तृत प्रस्तावना लिखी है जिसमें अनेक बातों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रस्तावना के लेख में भी मैंने उनकी प्रस्तावना से यथेच्छ सामग्री ली है। उनकी प्रस्तावना का अध्ययन करने के लिये विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करता हुआ उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हुं ।

स्वयंभूस्तोत्र का यह संस्करण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयंभूस्तोत्र के हिंदी अनुवाद सहित एक संस्करण में उसके संपादक विद्वान् ने वासुपूज्यम्स्तवन के चतुर्थ श्लोक में 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' इस प्रचलित पाठ के बदले 'अभ्यन्तरं केवल मप्यलं न' पाठ रक्खा था। इस नये पाठ की यथार्थता जानने के लिये कई लोगों के पत्र आये। एतदर्थ स्तोत्र की प्राचीन प्रतियां देखना पड़ीं। साथ ही प्रभाचन्द्राचार्य संस्कृत टीका का भी आलोड़न करने का अवसर आया। सब जगह 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलंते' ही पाठ मिला। निमित्त और उपादान के चल रहे द्वन्द्व को शमन करने के लिये ही संपादक विद्वान् ने उक्त पाठ की स्थापना की होगी ऐसा जान पड़ता है। संस्कृत टीका का आलोड़न करते समय विचार आया कि इसका हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन हो जावे तो उत्तम रहेगा। मराठी अनुवाद के साथ संस्कृत टीका का संस्करण तो देखा था पर हिन्दी टीका सहित इसका संस्करण देखने का प्रसंग नहीं आया। इसलिये इसपर काम करने का निश्चय किया। इसकी एक हस्तलिखित प्रति पूज्यवर्णी जी के संग्रह की सागर में थी और एकप्रति श्री पं० हीरालाल जी शास्त्री के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन ब्यावर से प्राप्त हो गई। दोनों प्रतियों के आधार पर संस्कृत टीका का संपादन हुआ। हिन्दी अनुवाद करते समय इस बात का ध्यान रहा कि श्लोक का सामान्य शब्दार्थ सरलता से सब के ग्रहण में आ सके, इस उद्देश्य से अन्वय के साथ अर्थ दिया है। भावार्थ, संस्कृत टीका के आधार पर अवलम्बित है पर उसका अविकल शब्दानुवाद नहीं है। कहीं कहीं विषय को स्पष्ट करने के लिये भावार्थ को विस्तृत भी करना पड़ा है। रचनाओं के देखने मे विदित होता है कि समन्तभद्र स्वामी विस्तारप्रिय नहीं थे। किसी बात को वे सारगर्भित–परिमार्जित–नपेतुले शब्दों में ही प्रकट करना श्रेयस्कर समझते थे स्वयंभूस्तोत्र में कुछ पद्य और खासकर दर्शन विषय के पद्य ऐसे हैं जो शाब्दिक संकोच के कारण दुरूह हो गये हैं, उनकी अर्थसंगति के लिये ऊपर से शब्दों की योजना करनी पड़ती है। क्षयोपशम के अनुसार ऐसे पद्यों का भाव स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न तो किया है परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान का भरोसा ही क्या है ? न चाहते हुए भी त्रुटियां रह जाती हैं अतः उनके लिये मैं विद्वद्वर्ग से क्षमाप्रार्थी हूं।

जिस समय इसकी पाण्डुलिपि तैयार हुई उस समय स्वर्गीय आचार्य शिवसागर जी महाराज पपौरा के चातुर्मास के बाद विहार करते करते महावीर जी पहुंचे थे और पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के बाद वहीं संघ सहित विराजमान थे।

मैंने वह पाण्डुलिपि उनके पास महावीर जी भेजदी। प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने शांतिवीर नगर से ही उसके प्रकाशन की व्यवस्था करा दी। पूज्यमहाराजश्री के इस प्रवचन वात्सल्य के उपलक्ष्य में उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा प्रकट करता हूं। अन्यान्य ग्रन्थों का प्रकाशन जारी रहने से इसके प्रकाशन में दो तीन वर्ष का विलम्ब हो गया। शान्तिवीर नगर के प्रकाशनों की असुन्दरता के बाबत मैंने एक बार श्री १०८ श्रुतसागर जी महाराज से शिकायत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि 'अपना बेटा गलती करता है तो पिता उसे बरदाश्त करता है तथा उसी से काम लेता है। यह संस्था अपनी है—आचार्य शान्तिसागर और वीरसागर जी के नाम इसके साथ जोड़े गये हैं इसलिये इसकी असुन्दरता ही नहीं गलतियों को भी बरदाश्त करना पड़ता है तथा इसी से काम कराना पड़ता है। काम करते करते यह भी एक दिन मार्गपर आजावेगी।

प्रूफ का अवलोकन श्री अशोक कुमार जी बड़जात्या और संस्था के विद्वान् श्री 'महेश' जी ने किया है अतः उनके प्रति आभारी हूं। जिन दानदाताओं ने समन्तभद्राचार्य की इस सार गर्भित वाणी को जन जन तक पहुंचाने में अपने धन का सदुपयोग किया है उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हुआ अन्य श्रीमानों से इस अनुकरणीय पद्धति को अपनाने की प्रार्थना करता हूं। वस्तुतः हमारे श्रीमानों का लक्ष्य यदि जिन वाणी के प्रसार की ओर आकृष्ट हो जावे तो समग्र जैन साहित्य के नई साज सज्जा के साथ प्रकाशित होने में देर न लगे।

आशा है स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव इस संस्करण से लाभ उठावेंगे।

विनीत

सागर　　　　　　　　　　　　　　पन्नालाल जैन

द्वितीयाषाढ़ बदी १० वीरनिर्वाण २४९५

९ – ७ – १९६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रमणिका

तीर्थंकर	पृष्ठ से	पृष्ठ तक
वृषभनाथ	१—	८
अजितनाथ	८—	१३
शम्भवनाथ	१३—	१८
अभिनन्दन नाथ	१९—	२४
सुमति नाथ	२५—	३२
पद्मप्रभ	३२—	३८
सुपार्श्व नाथ	३९—	४५
चन्द्रप्रभ	४५—	५०
सुविधिनाथ(पुष्पदन्त)	५०—	५७
शीतलनाथ	५८—	६३
श्रेयोनाथ	६३ —	६८
वासुपूज्य नाथ	६९—	७४
विमलनाथ	७४—	८१
अनंतनाथ	८१—	८६
धर्मनाथ	८६—	९१
शान्तिनाथ	९१—	९६
कुन्थुनाथ	९६—	१०२
अरनाथ	१०२—	११८
मल्लिनाथ	११८—	१२२
मुनिसुव्रत नाथ	१२३—	१२७
नमिनाथ	१२८—	१३४
अरिष्टनेमि नाथ	१३५—	१४२
पार्श्वनाथ	१४२—	१४६
वीरजिन-वर्द्धमान	१४७—	१५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोकानुक्रमणिका

पृष्ठ

अ

अचेतने तत्कृत बन्धजेऽपि २०
अजङ्गमं जङ्गमनेय यन्त्रं ४०
अतएव ते बुधनुतस्य १४१
अद्यापि यस्याजित शासनस्य ६
अधिगतमुनिसुव्रत स्थिति १२३
अनन्त दोषाशय विग्रहो ८१
अनवद्यः स्याद्वाद स्तव १४९
अनित्यमत्राण महं क्रियाभिः १४
अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं ५४
अनेकमेकं च तदेव तत्वं २६
अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते १११
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः ११५
अन्तकः क्रन्दको नृणां १०७
अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं २५
अपत्य वित्तोत्तर लोकतृष्णया ६१
अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं ४८
अहिंसा भूतानां जगति १३२
आयत्यां च तदात्वे च १०६

इ

इति निरुपमयुक्तशासनः ११६

ए

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्वं ५०
एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः ६७

क

ककुदं भुवः खचरयोषि १३९
कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस् १०५
कषायवाम्नां द्विषतां ८२
कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो ८९
कीर्त्या भुविभासि तया १४७
कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्व ९६
क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः २१

ग

गिरिभित्त्यवदानवतः १५२
गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं ५६
गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य १०२
गुणाभिनन्दादभिनन्दनो १९
गुणाम्बुधेर्विप्रुष ३७

च

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण ९२
चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं ४५
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्ध २२

त

तथापि ते मुनीन्द्रस्य १०३
तदेव च स्यान्न तदेव च ५२
तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः १४२
तव जिन शासनविभवो १४८
तव रुपस्य सौन्दर्यं १०४
तव वागमृतं श्रीमत् ११७
तृष्णार्चिषः परिदहन्ति ९७
ते तं स्वघातिनं दोषं ११३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमसि सुरासुर महितो १४६
त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं ८५
त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व ६२
त्वं जिन गतमदमाय स्तव १५१
त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः १३
त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधि १२६
त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्न १३७

द

दुरितमलकलङ्कमष्टकं १२७
दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे ६६
देवमानवनिकायसत्तमैः ८७
द्युतिमद्रथाङ्ग रविबिम्ब १३८

ध

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् ८६

न

नखचन्द्ररश्मिकवचाति १३७
न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे ७०
न मस्तलं पल्लवयन्निव त्वं ३६
नयास्तव स्यात्पदसत्य ८०
न शीतलाश्चन्दन चन्द्र ५८
न सर्वथा नित्य मुदेत्यपैति २६
नत्यं तदेवेदमिति प्रतितेर् ५३

प

पद्मप्रभः पद्मपलाश ३२
परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः ७७
परिणतशिखिकण्ठरागया १२४
परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी ८३
पूज्यं जिनं त्वार्चयतो ७१
प्रजापतिर्यः प्रथमं २
प्रतिहार्यविभवैः परिष्कृतो ८८

ब

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च १६
बभार पद्मां च सरस्वतीं ३३
बहिरन्तरप्युभयथा च १४१
बहुगुणसंपदसकलं १५३
बाह्यं तपः परमदुश्चर ८६
बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं ७३
बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति ४१
बृहत्फणा मण्डल मण्डपेन १४३

भ

भगवानृषिः परमयोग १३५
भूषावेषायुधत्यागि १०८

म

मतिगुणविभवानुरूपतस् ११७
मानुषींप्रकृतिमभ्यततिवान् ६०
मोहरूपो रिपुः पापः १०४

य

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः ७१
य एव नित्यक्षणिकादयो ७४
यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्ति १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यः सर्वलोके परमेष्टितायाः	४८
यथैकशः कारकमर्थसिद्धये	७६
यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत	१४५
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि	१२१
यस्य च मूर्तिःकनकमयीव	११९
यस्य पुरस्तद्विलितमाना	१२०
यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य	८
यस्य महर्षेः सकल पदार्थ	११८
यस्य समन्ताज्जिन शिशिरांशोः	१२१
यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेष	४६
यस्मान्मुनीन्द्र तव लोक पिता	१०१
यस्मिन्नमुद्राजनि राजचक्रं	९४
ये परस्खलितोन्निद्राः	११२
येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं	११

र

राजश्रिया राजसु राजसिंहो	९३

ल

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं	१०३

व

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं	१३३
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च	१४०
विधाय रक्षां परतः प्रजानां	९१
विधिर्विषक्त प्रतिषेधरूपः	६४
विधिर्निषेधश्च कथाञ्चिदष्टौ	३१
विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं	१३०
विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो	६५
विशेषवाच्यस्य विशेषणं क्वो	७९
विहाय यः सागरवारि	४

श

शक्रोऽप्यशक्तस्तव	१७
शतह्रदोन्मेष चलं हि सौख्यं	१५
शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते	३५
शशिरुचिशुक्ललोहितं	१२५
शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु	६९
श्रेयान् जिनः श्रेयसि	६३

स

स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां	४९
स चानुबन्धोऽस्य जनस्य	२३
सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्ति	२७
सदेकनित्यवक्तव्यास्	११४
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्र	१२
सभ्यानामभिरुचितं	१५०
समन्ततोऽङ्गभासां ते	१०९
सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्	४४
सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्	१०९
सर्वथा नियमत्यागी	११५
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः	६
स सत्यविद्या तपसां	१४६
सुखाभिलाषानलदाह	५९
सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते	८४
स्तुतिः स्तोतुः साधोः	१२८
स्थिति जननिरोध लक्षणं	१२६
स्वजीविते कामसुखे च	६०
स्वदोषशान्त्यावहितस्य	६५
स्वदोषमूल स्वसमाधि	५
स्वपक्षसौस्थित्य मदावलिप्ता	४७
स्वयोग निस्त्रिंशनिशात	१४४
स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले	१
स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष	२९

ह

हरिवंशकेतुरनवद्य	१३५
हलभृच्च ते स्वजन	१३८
हुत्वा स्वकर्म कटुक प्रकृती	१००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		प्रस्तावना–	
१	१०	तग्दुणलब्धये	तद्गुणलब्धये
२	१–२	तीर्थंकरों	तीर्थंकर
२	१९	तीर्थधर्म	तीर्थ-धर्म
४	३	बारह हजार	चार हजार
४	२९	साथ व्यवहार	साथ ही व्यवहार
५	२०	सार्वज्ञ लक्ष्मी	सार्वज्ञ्यलक्ष्मी
७	११	आध्यत्मवृत्त	अध्यात्मवृत्त
६	२४	त्रिरदावली	त्रिरुदावली
१०	६	तथोक्ति	तथ्योक्ति
१०	२३	कविरमहं	कविरहमहं
११	२४	शिवजी	शिवजी को
११	२७	लम्बिशे	लम्बुशे
		ग्रन्थ	
२	२	जान क	जान कर
३	५	इदमनेनेत्वं	इदमनेनेत्थं
३	८	षष्ठन्त	षष्ठ्यन्त
४	२०	इच्छक	इच्छुक
५	२३	अमुक्त	अभुक्त
८	१	यथार्थ नहीं	अयथार्थ नहीं
१०	१६	मुक्तघनोदेह	मुक्तघनोपदेहः
१२	१६	भावक्रोधाद्यो येन	भावक्रोधादयो वा येन
१३	२०	यथाऽनाथरूजां	वैद्यो यथाऽनाथरूजां
१३	२८	चरख	चरण
१३	२८	गुरु औंर	गुरु और गुरु
१४	११	प्रतिपाल	प्रतिफल
१४	१३	वशान्त	प्रशान्त
१५	२	(अत्राणजे)	(अत्राणम्)
१५	६	(आजीगमः)	अजीगमः
१५	६	जिस विपन्न	जिस कारण विपन्न
१५	१०	किया है	किया है इसलिये आप आकस्मिक वैद्य है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१७	तपस्यजस्त्रं	तपस्यजस्रं
१७	६	सांरष्य	सांख्य
१८	२	शिवतानि	शिवताति
२४	१४	मन में	मत में
२४	१४	उद्घोषिन	उद्घोषित
२६	१२	मिदं सत्यं	मिदं हि सत्यन्
२८	४	नचैत युक्तं	नचैतद्युक्तम्
२८	१६	भावात्मका	भावात्मकता
२८	२२	स्वपनवाधित	स्ववचनवाधित
३०	२१	निर्वितक	निर्वर्तक
३२	२	पदार्थ	परार्थ
३७	१२	भक्ति मां	भक्ति मां
३७	२७	दिभूत्यो	विभूत्यो
३९	६	भावित्त्तास्य	भावित्वात्तास्य
४१	११	रहं क्रियातं:	रहंक्रियात्तं:
४१	२५	प्राज्जलं	प्राञ्जलं
४२	३	सघातरूपागि	संघातरूपाणि
४३	२०	अवादरीरब्रवीस्त्वम्	अवादीरब्रवीस्त्वम्
४७	२१	नादैविमदा	नादैविमदा
४८	२५	चतुर्यस्य	चक्षुर्यस्य
४९	१६	कुमुद्वतिनां	कुमुद्वतीनां
४९	२०	कुमुद्वत्यो	कुमुद्वत्यो
४९	२४	मभूखानां	मयूखानां
४९	२५	करोतित्रसदर्थः	करोत्विति सारार्थः
५१	३	वक्म	ववम
५४	३	(नित्य) हे	(नित्यं) नित्य है
५४	१६	पत्र	पुत्र
५४	२३	परिणत है	परिणत होता है
५५	१५	सोऽयवादो	सोऽपवादो
५५	२१	निङन्त	तिङन्त
५५	२७	अभिद्या	अभिधा
५५	२७	व्यज्जना	व्यञ्जना
५८	११	अनद्याः	अनघाः
५९	८, ९	व्यदिध्यपस्तव	व्यदिध्यपस्त्वम्
५९	२८	बल के द्वारां	जल के द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ट	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	१	नात्मयीं	नात्मनो
६१	१२	विरुद्धवान्	निरुद्धवान्
६३	२	तथा चक्र आदि के संग्रह में '	तथा घन आदि के चक्र में–संग्रह में
६३	१०	जनाज्जिन:	जयाज्जिन:
६४	४	मोक्षमार्गं लगाते हुए	मोक्षमार्ग में लगाते हुए
६६	१३	कहने	कहने हैं
६६	२६	दृष्टिविभवत्यशेषे	दृष्टिर्विभवत्यशेषे
७०	८	पूजया नि	पूजया व
७५	१३	मन में	मत में
७८	२८	स्वप्रकाशत्व	स्वपर प्रकाशकत्त्व
८०	५	होना है	होता है
८१	७	भगवानन्तजित्	भगवाननन्तजित्
८१	१२	तद्वात्	तद्वान्
८३	५	व्यलीनयन्	व्यलीनयत्
८५	१	सुहृद्विषितो:	सुहृद्द्विषतो:
८५	२	यदुसानोऽपि	यदुदासीनोऽपि
८६	१३	के रहित	से रहित
८७	६	अनर्घ्यं	अनघं
८७	१८	अनद्य	अनवद्य
९३	२७	भाजन	भाजनं
९७	६	मुख्य विस्तार	मुख्य रूप से दया का विस्तार
९८	१७	वह प्रतिबोध	वह प्रतिबोध जो
१००	६	उत्तर में	उत्तर ध्यानों में
१०१	१०	विभूंति	विभूति
१०३	२	कीतितम्	किंतितम्
१०३	८	स्वभक्त्वा	स्वभक्त्या
१०४	१४	द्वायक्षः	द्वचक्षः
१०५	२८	यज्जाथं	यज्जातं
१०५	३६	त्वपि	त्वयि
१०९	५	विशिष्ट	विशिष्ट निग्रह
११०	२२	सर्वभाषा स्वभाकं	सर्वभाषास्वभावकं
१११	२	वचत रूप	वचन रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ट	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१४	सति	सती
११२	५	प्रत्येक अनेकान्तक	प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक
११२	६	उपेक्षा पर	उपेक्षा कर
११२	६	मुनिरुचं	मुनिस्त्वं
११२	२४	पश्यन्नन्यपश्यन्निव	पश्यन्नप्यपश्यन्निव
११२	३१	इमनिमलिन	इभनिमीलम
११३	५	गजनिमलिन	गजनिमीलन
११४	८	कीदृकाश्चासत्या	कीदृशाश्चासत्या
११५	१२	स्वाच्छब्द:	स्याच्छब्द:
१२२	७	कथंभूतं ? कृतं	कथंभूतं ? कृतकरणीयं कृतं
१२४	२२	कल्पना करना अलग से पड़ती है '	कल्पना अलग से करना पड़ती है।
१२७	१०	भवोपशान्तके	भवोपशान्तये
१३७	१३	मङ्गलीनां	मङ्गुलीनां
१३६	२६	विद्याधर्म:	विद्याधर्य:
१४०	१३	खचरयोषितशिखरै:	खचरयोषिदुषितशिखरै:
१४६	२	अवधं	अवद्यं

सुचनार्थं : —— संस्कृत में समस्त पदों का मूठा एक होना है पर प्रेस कर्मचारियों की असावधानी या अनभिज्ञता से संस्कृत टीका, श्लोक तथा अन्वयार्थ में कई स्थलों पर मूठा एक नहीं रखा जा सका है उसके कारण पाठकों को अर्थयोजना में कुछ कठिनाई होगी, पर इस सूचना के सिवाय सब का शुद्धि पत्र देना शक्य नहीं है अत: पाठकों से अनुरोध है कि वे ऐसे स्थलों पर सुधार स्वयं करलें। शुद्धि पत्र भी खास खास अशुद्धियों का दिया जा सका है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओं नमः सिद्धेभ्यः

बृहत्स्वयंभूस्तोत्रम्

श्रीवृषभजिनस्तवनम्

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले । समञ्जसज्ञान विभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः । क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

स्वयम्भुवेत्यादि—वंशस्थछन्दः१ । स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्यानुष्ठाय वानन्तचतुष्टयरूपतया भवनीति स्वयंभूस्तेन स्वयंभुवा, विराजितं शोभितं, क्व ? भूतले पृथ्वीतले, कथंभूतेन ? भूतहितेन भूतानि प्राणिनस्तेभ्यो हितं हितस्य मोक्षसौख्यस्य प्राप्त्युपायप्रदर्शकत्वेन प्रापकत्वात्परमकारुणिकत्वाच्चतेन, पुनरपि कथंभूतेन ? समञ्जसज्ञानविभूति चक्षुषा संगतं सर्वपदार्थैः सह ग्राहकत्वेन संबद्धं असमञ्जसमवितथं तच्च तत् ज्ञानं च तस्य विशिष्टा परमातिशयप्राप्ता भूतिरुत्पत्तिर्यदि वा विभूतिर्यथावत्सकलपदार्थ साक्षात्कारित्व श्रीः सैव चक्षुर्यस्य तेन, किं कुर्वता तेन चक्षुर्लब्धमित्याह—विधुन्वता, किं तत् ? तमः तमो ज्ञानावरणादिकर्म, विधुन्वता विशेषेण निराकुर्वता, कैः ? करैः करा रश्मयः सम्यग्दर्शनादिलक्षणाः करा अत्र गृह्यन्ते, तैः किंविशिष्टैः ? गुणोत्करैः गुणाः स्वर्गापवर्ग—प्राप्तिहेतुत्वादयस्तेषामुत्करः समूहो येषां ते तैः, केनेव तमो विधुन्वता निराकुर्वता कि तत्तमः विराजितमित्याह—क्षपाकरेणेव क्षपां रात्रिं करोतीति क्षपाकरश्चन्द्रस्तेनेव, अथवा किं कुर्वता भगवता भूतले विराजितमित्याह—विधुन्वता निराकुर्वता किं तत् ? तमः प्राणिनामज्ञानलक्षणमन्धकारं, कैः ? करैः परप्रबोध विधानसाधर्म्यादिह करशब्देन वचनानि गृह्यन्ते, कथंभूतैस्तैः ? गुणोत्करैः गुणा अबाधितत्वयथावस्थितार्थ प्रकाशकत्वादय स्तेषामुत्कराःयेषां ते तैः, केनेव कैः ? क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः यथा क्षपाकरेण यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वादिगुणोत्करैः करैः २रश्मिभिस्तमो विधुन्वता भूतले विराजितं तथा भगवता वचनकरैः प्राणिगणाज्ञानतमो विधुन्वतेति ॥ १ ॥

१ 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण हो उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं। २ अंशुभिः ख. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् के स्वयंभू नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(स्वयंभुवा) जो स्वयंभू थे–दूसरे के उपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जान कर तथा उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टयस्वरूप हुऐ थे, (भूतहितेन) प्राणियों के लिये हितकारक थे, (समञ्जसज्ञान विभूति चक्षुषा) सम्यग्ज्ञान की विभूति रूप नेत्र से युक्त थे और (गुणोत्करैः करैः] स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में कारण भूत गुणों के समूह से युक्त वचनों के द्वारा (तमः) ज्ञानावरणादि कर्म रूप अज्ञान को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (येन) जो (भूतले) पृथिवीतल पर (गुणोत्करैः करैः) अर्थ प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा (तमः) अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (क्षपाकरेणेव) चन्द्रमा के समान (विराजितम्) सुशोभित होते थे ।। १ ।।

भावार्थ—पूर्व भव में भावित षोडश कारण भावनाओं के अन्तर्गत अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना के फलस्वरूप प्रत्येक तीर्थंकर को परोपदेश के बिना ही समस्त विद्याओं का परिज्ञान हो जाता है और दीक्षा के पूर्व किसी की प्रेरणा के बिना ही किसी प्रसङ्ग को पाकर वे मोक्षमार्ग को जान लेते हैं तथा उसका आचरण कर अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं इसलिये उन्हें स्वयंभू कहते हैं। यहां भगवान् वृषभ देव का स्तवन करते हुए उन्हें भी स्वयंभू कहा गया है वे भी किसी गुरु के बिना ही समस्त विद्याओं के पारगामी हुए थे तथा दीक्षा के पूर्व नीलाञ्जना के विलय का प्रसङ्ग पाकर स्वयं ही दीक्षित हो तपश्चरण के द्वारा अनन्तचतुष्टय से युक्त अरहन्त पद को प्राप्त हुए थे। रागादिक विकारी भावों का सर्वथा नाश हो जाने से भगवान् प्राणिमात्र का हित करने वाले थे इसलिये उन्हें भूतहित कहा है। वे समस्त पदार्थों से संबद्ध--समस्त पदार्थों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट सीमास्वरूप केवलज्ञान से युक्त थे अर्थात् सर्वज्ञ थे और अनेक गुणों से युक्त वचनों के द्वारा लोगों का अज्ञानान्धकार दूर करते थे अर्थात् हितोपदेशकत्व गुण से युक्त थे। इसलिये जिसप्रकार आह्लादकत्व तथा प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा पृथिवीतल पर सुशोभित होता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी अबाधितत्व आदि गुणों से युक्त वचनों के द्वारा लोगों के अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए सुशोभित होते थे ।। १ ।।

गृहस्थावस्थायामित्थंभूतः सन् भगवान् वैराग्यं गत इत्याह—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः । शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो । ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।। २ ।।

प्रजापतिरित्यादि—प्रजानां त्रिलोक सकल लोकानां पतिः स्वामी यो बभूवेति पदघटना[१] । कदा ? प्रथमम्, इदानींतनावसर्पिणी [२]चतुर्थकालवर्त्तिनां सर्वतत्पतीनामादौ

---

१ पदघटनात् ख० २ भगवान् वृषभनाथ तृतीय काल में उत्पन्न हुए थे और तृतीय काल के ३ वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहने पर मोक्ष चले गये थे इसलिये यहां चतुर्थकाल का उपलक्षण कर्मभूमि का प्रारम्भ समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[अ] पश्चात् शशास शिष्टवान् नियोजितवान् । काः ? प्रजाः, कथंभूताः ? जिजीविषूः जीवितुमिच्छूः, क्व ? कर्मसु, केषु ? कृष्यादिषु, कृषिरादिर्येषां कर्मणां सेवादीनां तानि यथोक्तानि तेषु, कथंभूतः सन्नसौ ताः शशासेत्याह—प्रबुद्धतत्वः प्रकर्षेण बुद्धं ज्ञातं प्रजानां तददृष्टं तत्फलानां तत्वं स्वरूपं येन सः यतः विशिष्टमतिश्रुतावधिज्ञानेन प्रजास्तददृष्टं तत्फलमन्यच सर्वं ज्ञात्वा इदमनेनैव कर्तव्य मिदं वानेनेति नियोजितवान् । ताश्च योजयित्वा पुनः पश्चात् प्रबुद्धतत्वः परिज्ञात हेयोपादेयस्वरूपः, अद्भुतोदयः अद्भुतोऽचिन्त्य उदयो गर्भावतार[२]प्रभृतितः शक्रादिसंपादितो विभूति विशेषो यस्य स, इत्थंभूतो भगवान् निर्विविदे निर्विण्णवान्, कस्मात् ? ममत्वतः, ममेतिषष्ठ्यन्तप्रतिरूपको निपातो ममेत्यस्य भावो ममत्वं तस्मात् । यतः इत्थंभूतः संपन्नो भगवान् तत एवासौ विदां तत्ववेदिनां विपश्चितां वरः प्रधानः ॥ २ ॥

गृहस्थ अवस्था में ऐसे होते हुए भगवान् वैराग्य को प्राप्त हुए यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः प्रजापतिः 'बभूव') जो तीन लोक की समस्त जनता के स्वामी थे । जिन्होंने (प्रथमं) कर्मभूमि के प्रारम्भ में (प्रबुद्धतत्वः) मति श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा लोगों के कर्म तथा उनके फलों को जानकर (जिजीविषूः प्रजाः) जीवित रहने की इच्छुक जनता को (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती आदि आजीविका के उपयोगी छह कार्यों में (शशास) शिक्षित किया था और (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्वः) हेय-उपादेय तत्व को अच्छी तरह जान कर (अद्भुतोदयः) इन्द्र आदि के द्वारा की हुई आश्चर्यकारी विशिष्ट विभूति को प्राप्त होते हुए जो ममत्वतः) ममता भाव से-परिग्रह विषयक आसक्ति से (निर्विविदे) विरक्त हो गये थे तथा इन सब कारणों से जो (विदांवरः) श्रेष्ठ ज्ञानी हुए थे ॥ २ ॥

भावार्थ—तृतीय काल में जब पल्य का आठवां भाग बाकी रह गया तब क्रम क्रम से भोग भूमि नष्ट होकर कर्म भूमि प्रारम्भ हुई । भगवान् वृषभ देव के होते २ कल्पवृक्ष नष्ट हो गये तथा बिना बोये अपने आप उत्पन्न होने वाली धान्य का उपजना बन्द हो गया । आजीविका के बिना लोग दुखी होने लगे तब सब लोग अन्तिम कुलकर नाभिराज की संमति से भगवान् वृषभदेव के पास गये । सबने अपना दुःख प्रकट किया उसी समय भगवान् ने अवधि ज्ञान से विदेह क्षेत्र की कर्मभूमि की व्यवस्था को जान कर भरत क्षेत्र में भी वही व्यवस्था चालू की । सबके लिये कृषि-खेती करना, मषी—लेखन कार्य करना, असि—शस्त्र चलाना, विद्या-गायन वादन आदि मनोरंजन के कार्य करना, शिल्प—कला कौशल के द्वारा वस्तुओं का निर्माण करना और वाणिज्य—व्यापार करना इन छह कार्यों का उपदेश दिया । नगरी आदि की रचना कर राजा प्रजा का विभाग स्थिर किया । इस सब व्यवस्था के कारण भगवान्

२ गर्भावतारात् ख० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रजापति—तीन लोक की समस्त प्रजा के स्वामी हुए और बाद में हेय—छोड़ने योग्य तथा उपादेय—ग्रहण करने योग्य तत्वों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर वे संसार से विरक्त होगये, इन्द्र आदि देवों ने उनके दीक्षाकल्याणक आदि आश्चर्यकारी उत्सव किये तथा केवलज्ञान प्राप्त कर वे ज्ञानियों में श्रेष्ठ बन गये। इन्हीं सब घटनाओं का वर्णन इस पद्य में किया गया है ॥ २ ॥

निर्विण्णः सन् भगवान् किं कृतवा नित्याह—

विहाय यः सागरवारिवाससं। वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्। प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

विहायेत्यादि—यो विनिर्विण्णो नाभिनन्दनः स प्रवव्राज प्रव्रज्यां गृहीतवान्। किं कृत्वा ? विहाय त्यक्त्वा कां ? वसुधावधूं वसु द्रव्यं दधातीति वसुधा सैव वधूर्महिला ताम्। नारकादिवसुधा तेन त्यक्ता भविष्यतीत्याहइमां दृश्यमानां, किं विशिष्टां ? सागर वारिवाससं सागरः समुद्रस्तस्य वारि पानीयं तदेव वासः परिधानं यस्यास्तां सकल समुद्र पर्यन्तां पृथ्वीं त्यक्त्वेत्यर्थः। पुनरपि कथंभूतां ? सतीम्, अन्येनाभुक्तां, कामिव ? वधूमिव यथा निर्विण्णेन भगवता सती वधूः अन्तःपुर महिला परित्यक्ता तथा सापीत्यर्थः। किं विशिष्टोऽसौ तां विहाय प्रवव्राजेत्याह—मुमुक्षुर्मोक्तुमिच्छुमुमुक्षुः संसारसमुद्रादुत्तितीर्षुरित्यर्थः। पुनरपि किं विशिष्टः ? इक्ष्वाकुकुलादिः इक्ष्वाकवो राजानस्तेषां कुलं वंशस्तस्यादिः, आत्मवान् वश्येन्द्रियः अतएव प्रभुः स्वतन्त्रः, सहिष्णुः परीषहैरपराजितस्तान् सोढुं समर्थइत्यर्थः, अतएवाच्युतो दुःसह परीषहक्लेशोपनिपाते प्रतिज्ञातव्रतादनपसृतत्वात् अचलितत्वात् ॥३॥

विरक्त होते हुए भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जो (मुमुक्षुः) मोक्ष के अभिलाषी अथवा संसार समुद्र से पार उतरने के इच्छुक थे, (आत्मवान्) जितेन्द्रिय थे, (प्रभुः) सामर्थ्यवान् अथवा स्वतन्त्र थे, (सहिष्णुः) परीषह आदि की बाधाओं को सहन करने वाले थे, (अच्युतः) गृहीतव्रत मे अविचलित रहने वाले थे, (इक्ष्वाकुकुलादिः) इक्ष्वाकुकुल अथवा समस्त राजवंशों में आदि पुरुष थे और जिन्होंने (सतीम्) किसी अन्य राजा के द्वारा अभुक्त होने से पतिव्रता इमाम्) इस (सागरवारिवाससम्) समुद्र के जल रूप वस्त्र को धारण करने वाली—समुद्रान्त, (वसुधावधूम्) धनधान्य से परिपूर्ण पृथिवी रूपी स्त्री को (सतीं वधूमिव) पतिव्रता स्त्री के समान (विहाय) छोड़कर (प्रवव्राज) दीक्षा धारण की थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—भगवान् वृषभदेव कर्मभूमि के प्रथम राजा थे, इनके पहले भरत क्षेत्र में भोगभूमि की व्यवस्था रहने से कोई राजा नहीं था, इन्द्र ने प्रथम राज्याभिषेक इन्हीं का किया था। और उस समय की पृथिवी सचमुच ही वसुधा अर्थात् वसु-धनको धारण करने वाली थी फिर भी विरक्त होकर भगवान् ने इस समुद्रान्त पृथिवी को इस प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार की अन्तःपुर की स्त्री सुनन्दा और यशस्वती को छोड़ दिया था। इस पृथिवी के छोड़ने का मूलकारण यही था कि भगवान् मुमुक्षु थे संसार के बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक थे। वे जितेन्द्रिय थे इसलिये संसार के प्रलोभन उन्हें लुभा नहीं सके, वे स्वतन्त्र थे इसलिये दो स्त्रियों सौ पुत्रों तथा दो पुत्रियों का विशाल परिवार उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सका, वे सहन शील थे इसलिये लगातार एक वर्ष तक क्षुधा तृषा आदि परीषहों की बाधा सहन करते रहे और अच्युत थे—गृहीत व्रत से विचलित होनेवाले नहीं थे इसीलिये देखासीखी साथ में दीक्षा लेने वाले चार हजार राजाओं के विचलित हो जाने पर भी वे अपने पथ पर अडिग बने रहे ।। ३ ।।

प्रव्रज्यामादाय भगवान् किं कृतवानित्याह—

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा । निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा । बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।। ४ ।।

स्वदोषेत्यादि—स्वस्यात्मनो दोषा रागादयस्तेषां मूलं घातिकर्म चतुष्टयं तत् निनाय नीतवान्। कां ? निर्दयभस्मसात्क्रियाम् दयातो निष्क्रान्ता निर्दया सा चासौ भस्मसात्क्रिया च कार्त्स्न्येन भस्मकरणं भस्मसात्क्रिया ताम्। केन ? स्वसमाधितेजसा स्वस्य समाधिः परमशुक्लध्यानं स एव तेजोऽग्निस्तेन तत्क्रियां तन्नयन् स किं कृतवानित्याह—जगाद कथितवान् किं ? तत्त्वं जीवादि स्वरूपं, कस्मै ? जगते प्राणिगणाय, कथंभूताय ? अर्थिने तत्वपरिज्ञानाभिलाषिणे। सुगतवत्—[1]बुद्धवत् पर प्रतारकत्वेनासौ तत्त्वं कथितवानित्याह अञ्जसा परमार्थेन। ननु बुभुक्षादिदुःखपीडितः कदाचिद्वितथमपि कथयिष्यत्यतोऽञ्जसेत्ययुक्तमित्यत्राह—बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः बभूव च संजातवांश्च कथंभूतो ब्रह्मपदामृतेश्वरः ब्रह्मपदं मोक्षस्थानं तस्यामृतमनन्तं सुखं तस्येश्वरः स्वामी अतः कथं तत्र [2]क्षुद्दुःखलेशोऽपि यतः केवलिभुक्ति परिकल्पना श्रेयसी स्यात् ।। ४ ।।

दीक्षा लेकर भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं—

---

१ ख पुस्तके 'बुद्धवत्' नास्ति २ क्ष द्र क्षुद्--ख.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वदोषमूलम्) अपने काम क्रोध आदि समस्त दोषों के मूल कारण—चार घातिया कर्मों को (स्वसमाधितेजसा) परमशुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा (निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय) निर्दयता पूर्वक भस्मभाव को प्राप्त कराया है—समूल नष्ट कर दिया तथा जिन्होंने (अर्थिने जगते) तत्वज्ञान के अभिलाषी प्राणिसमूह के लिये (अञ्जसा) वास्तविक (तत्वं) जीवादि तत्वों का स्वरूप (जगाद) कहा (च) और अन्त में जो (ब्रह्मपदामृतेश्वरः) मोक्षस्थान के अविनाशी—अनन्त सुख के स्वामी (बभूव) हुए।

भावार्थ—भगवान् वृषभदेव ने दीक्षा लेकर एक हजार वर्ष तक कठिन तपश्चर्या की और उसकी साधना के फल स्वरूप शुक्लध्यान के द्वारा अपने काम क्रोधादि समस्त विकारी भावों के मूल कारण—चार घातिया कर्मों को नष्टकर अरहन्त अवस्था प्राप्त की। समवसरण की रचना हुई और गन्धकुटी में विराजमान होकर उन्होंने तत्वज्ञान के अभिलाषी प्राणियों को समीचीन उपदेश दिया। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि भगवान् ने दूसरों को उपदेश तब दिया जब अपने विकारी भावों को पहले स्वयं नष्ट कर लिया और यथार्थ में क्रम भी यही है जब तक मनुष्य अपने दोषों का शमन न करले तब तक उसे दूसरों के लिये उपदेश देना शोभास्पद नहीं होता। प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद जब तक दोषों का शमन कर सर्वज्ञ नहीं बन जाते तब तक का समय मौन से ही व्यतीत करते हैं। अरहन्त भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं इसलिये उनका उपदेश यथार्थ ही होता है। अरहन्त अवस्था में तथा उसके बाद प्रकट होनेवाली सिद्ध अवस्था में वे भगवान् अनन्त सुख के स्वामी थे इसलिये क्षुधा तृषा आदि सम्बन्धी दुःख दूर करने के लिये केवली कवलाहार करते हैं ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है ॥ ४ ॥

अत्राह मीमांसको भगवतोऽतीन्द्रियज्ञान विकलतया सकलार्थ परिज्ञानासंभवात् कथमञ्जसा तत्वप्रतिपादनं घटेतेत्याह—

वृषः=धर्मः भाः=भाति शोभते

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां। समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो। जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥

(५)

स विश्वचक्षुरित्यादि—प्रागुक्त विशेषण विशिष्टो भगवान् विश्वचक्षुः चक्षुरिवचक्षुः केवलज्ञानं पदार्थप्रकाशनहेतुत्वात् विश्वस्मिन् त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुसंघाते चक्षुः प्रकाशकत्वेन प्रवृत्त केवलज्ञानं यस्य सः। किन्नामासौ? वृषभो वृषो धर्मस्तेन भाति शोभते स वा भाति प्रकटी भवति यस्मादसौ वृषभः। कथंभूतः? अर्चितः पूजितः, केषां? सतां विपश्चितामिन्द्रादीनाम्। ननु सकलकर्मक्षयात्पूर्वमसौ विश्वचक्षुरस्तु तत्प्रक्षये तु जडो भविष्यति बुद्ध्यादि विशेषगुणादीनामत्यन्तोच्छेदादिति यौगाः। चैतन्यमात्ररूप इति सांख्याः। अत्राह—समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः अञ्जनात् ज्ञानावरणादिकर्मणो निष्क्रान्तो निरञ्जनः सकल कर्मवि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमुक्तः सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो नापि चैतन्यरूपः समग्राः सम्पूर्णा जीवाद्यशेष[1]वस्तुविषया विद्या बुद्धिरात्मनो वपुः स्वरूपं यस्य सः । इत्थंभूतो भगवान् किं करोतु ? पुनातु पवित्रीकरोतु सकलदोषविशुद्धं करोत्वित्यर्थः । किं तत् ? चित्तमात्मस्वरूपं, कस्य ? मम स्तुतिकर्तुः, पुनरपि कथंभूतो वृषभः ? नाभिनन्दनः नाभेश्चतुर्दशकुलकरस्य नन्दनः सुतः । जिनो निखिलवाह्याभ्यन्तर शत्रुनिर्मूलोन्मूलकः । जितक्षुल्लकवादिशासनः क्षुल्लकानि लघूनि क्षुद्राणि विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वाभावात् तानि च तानि वादिशासनानि च परस्परविरुद्धं सर्वथानि त्यक्षणिकादितत्वं वदन्तीति वादिनः कपिलेश्वर सुगतादयस्तेषां शासनानि मतानि जितानि क्षुल्लक वादि शासनानि येनेति । अजित क्षुल्लकवादि शासन इति च पाठः,[2] न जितं क्षुल्लकवादिभिः शासनं यस्य ॥ ५ ॥

यहां मीमांसक कहता है कि चूंकि भगवान् को अतीन्द्रिय ज्ञान का अभाव होने से समस्त पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है अतः तत्वों का यथार्थ प्रतिपादन कैसे हो सकता है यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—(विश्वचक्षुः) जिनका केवलज्ञान रूपी चक्षु समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, जो (सताम्) इन्द्र आदि सत्पुरुषों के (अर्चितः) पूजित हैं, (समग्रविद्यात्मवपुः) जीवाजीवादि समस्त पदार्थों को विषय करने वाली बुद्धि ही जिनकी आत्मा का स्वरूप है, (निरञ्जनः) ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित होने के कारण जो निर्मल हैं, (नाभिनन्दनः) चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र हैं, (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, और (जित क्षुल्लकवादि शासनः) जिन्होंने क्षुद्रवादियों के शासन को जीत लिया है अथवा (अजित क्षुल्लक वादिशासनः) जिनका शासन क्षुद्रवादियों के द्वारा नहीं जीता जा सका है (सः) वे (वृषभः) धर्म से सुशोभित रहने वाले अथवा धर्म को सुशोभित करने वाले वृषभनाथ भगवान् (मम) मेरे (चेतः) चित्त को (पुनातु) पवित्र करें—रागादि विकारी भावों से रहित कर निर्मल बनावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मीमांसक सर्वज्ञ को नहीं मानता इसलिये उसने कहा था कि अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होने के कारण भगवान् को समस्त पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं है और इस दशा में वे यथार्थ ही तत्व का प्रतिपादन करेंगे यह नहीं कहा जा सकता…इसका समाधान करने के लिये इस पद्य में कहा गया है कि भगवान् वृषभदेव विश्वचक्षु हैं। यहां चक्षु का अर्थ पदार्थ प्रकाशक होने के कारण केवल ज्ञान लिया गया है अर्थात् भगवान् का केवलज्ञान रूप चक्षुः समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। फलतः वे सर्वज्ञ हैं और साथ ही निरञ्जन भी हैं—कर्ममल कलंक से रहित हैं इसलिये उनके द्वारा पदार्थों का

१ जीवाद्यशेष विषया ख० । २ पाठे तु ख० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपादन यथार्थ ही संभव है। यथार्थ नहीं। भगवान् की आत्मा ज्ञान आदि गुणों से तन्मय रहती है इसलिये यौगों के समान बुद्धि आदि गुणों के सर्वथा उच्छेद की आशङ्का और सांख्यों के समान पदार्थ ग्रहण की शक्ति के अभाव की कल्पना श्रेयस्करी नहीं है। यहां स्तुति कर्ता स्तुति के फलस्वरूप किसी सांसारिक–भौतिक फल की चाह न कर मात्र यह इच्छा प्रकट करते हैं कि भगवान् मेरे हृदय को पवित्र करें—रागादि विकारों से उसे मलिन नहीं होने दें, मैं निरञ्जन–कर्म कलङ्क से रहित जिनेन्द्र की उपासना कर रहा हूं इसलिये उसके फलस्वरूप हृदय की निरञ्जनता—कर्म कलङ्क रहितता होना ही चाहिये ॥ ५ ॥

श्री अजित जिनस्तवनम्

यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य । क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार । नामाजित इत्यबन्ध्यम् ॥१॥

यस्य प्रभावादित्यादि— उपजातिछन्दः[१]। यस्य नाम चकार कृतवान् । कोऽसौ ? बन्धुवर्गः, कथंभूतस्य ? त्रिदिवच्युतस्य त्रिदिवात्स्वर्गात् च्युतोऽवतीर्णस्तस्य, किंविशिष्टो बन्धुवर्गः ? अजेयशक्तिः न जीयत इत्यजेया शक्तिः सामर्थ्यं यस्य, क्व ? क्रीडास्वपि न केवलं महायुद्धेषु, कुतः ? प्रभावान्माहात्म्याद्यस्येत्येतदत्राप्यभिसंबन्ध्यते, पुनरपि किंविशिष्टोऽसौ ? क्षीवमुखारविन्दः मुखमेवारविन्दं कमलं मुखारविन्दं क्षीवं समदं हर्षितं मुखारविन्दं यस्य इत्थंभूतो बन्धुवर्गो बन्धुसमूहः, तस्य नाम चकार कृतवान्, भुवि पृथिव्यां, कथंभूतं नाम ? अजित इति न केनचिज्जीयत इत्यजितः, अतएवाबन्ध्यमन्वर्थम् ।

भगवान् के अजित नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

---

१ 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' जिसके चरण इन्द्र वज्रा और उपेन्द्र वज्रा से मिश्रित हों उसे उपजाति कहते हैं। 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' जिसमें दो तगण एक जगण और दो गुरु हों वह इन्द्र वज्रा है। 'उपेन्द्रवज्रा जतजा स्ततो गौ' जिसमें जगण तगण जगण और दो गुरु हों उसे उपेन्द्र वज्रा कहते हैं। इन दोनों के मेल से उपजाति के १४ भेद हो जाते हैं। तथा च वृद्धा। एकत्र पादे चरण द्वये वा पादत्रये वान्यतर स्थितिश्चेत्। तयोरिहान्यत्र तदोहनीयाश्चतुर्दशोक्ता उपजातिभेदाः। वृत्तरत्नाकरस्य नारायणी टीका.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(त्रिदिवच्युतस्य) स्वर्ग से अवतीर्ण हुए (यस्य) जिनके (प्रभावात्) प्रभाव से उनका (बन्धुवर्गः) कुटुम्बि समूह (क्रीडास्वपि) बालक्रीडाओं में भी (क्षीत्रमुखारविन्दः) हर्षोन्मत्तमुख कमल से युक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से वह बन्धुवर्ग (भुवि) पृथिवी पर (अजेय शक्ति) अजेय शक्ति का धारक रहता था और इसीलिये उस बन्धुवर्ग ने (यस्य) जिनका (अजित :) अजित (इति) यह (अवन्ध्यम्) सार्थक (नाम) नाम (चकार) रक्खा था।

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ विजय नामक अनुत्तर विमान से च्युत होकर अयोध्या के राजा जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वे इतने प्रभावशाली थे कि उनके उत्पन्न होते ही कुटुम्बीजनों का समूह उनके प्रभाव से बड़े बड़े युद्धों की बात दूर रहे बालक्रीड़ाओं में भी कभी किसी से पराजित नहीं होता था अपनी इस अजेय शक्ति के कारण उसका मुख कमल सदा विजय के गर्व से उल्लसित रहता था और इसीलिये उसने उनका 'अजित' जो किसी के द्वारा जीता न जावे–ऐसा सार्थक नाम रक्खा था॥ १॥

अत एवेष्ट प्रयोजन सिद्धयर्थं भव्यजनैरिदानी मपि तदुच्चार्यत इत्याह—

अद्यापि यस्याजितशासनस्य। सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं। स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके॥२॥

अद्यापीत्यादि—अद्यापि इदानीमपि न केवलं तत्काले यस्याजितस्य भगवतः, कथंभूतस्य ? अजितशासनस्य अजितमनिराकृतं परवादिभिः शासनमनेकान्तमतं यस्य तस्य, कथंभूतस्य ? सतां प्रणेतुः सतां भव्यानां प्रणेतुः सन्मार्गे प्रवर्तकस्य नाम प्रगृह्यते उच्चार्यंते, परमुत्कृष्टं पवित्रं सकलमलविलयकारणं, केन ? जनेन, कथंभूतेन ? स्वसिद्धिकामेन स्वस्य सिद्धिः पराभिभवेनात्मनोऽभिप्रेत प्रयोजन निष्पत्तिस्तत्र कामो यस्य तेनात्मजयाभिलाषिणेत्यर्थः, किमर्थं ? प्रतिमङ्गलार्थं प्रतिमङ्गलाय प्रतिमङ्गलार्थं मङ्गलं मङ्गलं प्रति सिद्धिनिमित्तमित्यर्थः। क्व ? लोके।

इसलिये इष्टसिद्धि के अर्थ भव्यजन अब भी उनके नामका उच्चारण करते हैं यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अजितशासनस्य) पर वादियों के द्वारा अविजित अनेकान्तमत से युक्त तथा (सतां प्रणेतुः) सत्पुरुषों के प्रधान नायक (यस्य) जिन अजितनाथ भगवान् का (परं पवित्रं) अत्यन्त पवित्र (नाम) नाम (अद्यापि) आज भी (स्वसिद्धिकामेन) अपने मनोरथों की सिद्धि के इच्छुक (जनेन) जन समूह के द्वारा (प्रतिमङ्गलार्थम्) प्रत्येक मङ्गल के लिये (प्रगृह्यते) सादर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रहण किया जाता है ।

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ का अनेकान्तमत रूप शासन सर्वथा एकान्तवादियों के द्वा सदा अविजित रहता था और वे भव्य पुरुषों के प्रधान नेता थे—स्वयं समीचीन मार्ग पर चल कर उ समीचीन मार्ग में—मोक्षपथ में चलाने वाले थे इसलिये उनका लोकोत्तर माहात्म्य न केवल उस सम था किन्तु आज भी वैसा ही माहात्म्य बना हुआ है इसीलिये अपने मनोरथों की सिद्धि चाहने वा मनुष्य आज भी प्रत्येक मङ्गल के निमित्त उनके पवित्र नाम का उच्चारण बड़ी श्रद्धा के साथ कि करते हैं ॥ २ ॥

यस्य[1] भगवतो नाम गृह्यते स किमर्थं प्रतिबन्धक प्रक्षपं कृत्वा सर्वज्ञः प्रादुर्भू इत्याह--

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना । भव्याशयालीन कलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो । यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥ ३ ॥

यः प्रादुरासीदित्यादि--यो भगवान् प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतवान्, किमर्थं ? भव्याश यालीनकलङ्कशान्त्यै भव्यानामाशयः चित्तं चिद्रूपमात्मस्वरूपं तत्रालीनो लग्नः सचास कलङ्कश्च अज्ञानं तत्कारणं ज्ञानावरणादिकर्म च तस्य शान्त्यै विनाशाय भव्यप्रतिबोधना येत्यर्थः। केन ? प्रभुशक्तिभूम्ना प्रभवति समर्थो भवत्युपकारं कर्तुमिति प्रभुर्जगतामुपकारक भगवान् तस्य शक्तिर्वाणी यया तेषामुपकारं कर्तुं शक्नोति तस्या भूमा जीवाद्यर्थप्ररूपणे माहात्म्यविशेषः प्राचुर्यं वा तेन, कथंभूतोऽसौ ? महामुनिः गणधरदेवादिमुनीनां प्रधान प्रत्यक्षज्ञानी वा, क इव कस्मै प्रादुरासीदित्याह—मुक्त इत्यादियथा भास्वानादित्यः प्रादु रासीत् किमर्थं ? अरविन्दाभ्युदयाय अर बिन्दानां पद्मानामभ्युदयो विकासलक्षणा विभूति स्तस्मै, किंविशिष्टो भास्वान् ? मुक्तघनोदेहः मुक्तो घनैर्मेघैरुपदेह उपलेपः प्रच्छादक यस्य ॥ ३ ॥

जिन भगवान् का नाम लिया जाता है वे किस प्रकार प्रतिबन्धकों का क्षय करके सर्वज्ञ हुए थे यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मुक्तघनोपदेहः) ज्ञानावरणादि कर्म रूप सघन आवरण से रहित (यः) जो (महामुनिः) गणधरादि देवों में प्रधान अथवा प्रत्यक्षज्ञानी अजितनाथ भगवान् (भव्याशयालीन

[1] यस्य इतोग्रे मङ्गलवतः ख.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलङ्कशान्त्यै) भव्यजनों के हृदय में संलग्न अज्ञान अथवा उसके कारणभूत ज्ञानावरणादिकर्म रूप कलङ्क की शान्ति के लिये (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगत् का उपकार करने में समर्थ वाणी के माहात्म्य विशेष अथवा प्रभुत्वशक्ति की प्रचुरता से ('तथा' प्रादुरासीत्) उस तरह प्रकट हुए थे (यथा) जिस तरह कि (मुक्तघनोपदेहः) मेघरूप आच्छादन से मुक्त सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलों के विकास रूप अभ्युदय के लिये प्रकट होता है।

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ गणधरादि मुनियों में प्रधान होने के कारण अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त होने के कारण महामुनि कहलाते थे। जिस प्रकार सूर्य मेघों के आवरण को चीर कर अपने प्रखर प्रताप से कमलों के आह्लाद का कारण होता है उसी प्रकार भगवान् अजितनाथ भी घातिया कर्म रूप आवरण को छिन्न भिन्न कर केवलज्ञान से युक्त हो अपनी लोकोपकारक दिव्यध्वनि की महिमा से भव्यजीवों के हृदय में विद्यमान अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले हुए थे ॥ ३ ॥

तदर्थं प्रादुर्भूतेन च तेन किं कृतमित्याह——

येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं । [१]ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं । गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥ ४ ॥

येनेत्यादि——येनाजितनाम्ना तीर्थंकरदेवेन प्रणीतं प्रकाशितं किं ? धर्मतीर्थं धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य च प्रतिपादकं तीर्थं श्रुतं, कथंभूतं ? पृथु महत् सकलपदार्थ विषयतया ज्येष्ठं सकलधर्मतीर्थप्रधानं पुनरपि कथंभूतं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखं यदित्यध्याहार्यं यद्धर्मतीर्थं प्राप्य लब्ध्वा जनाः भव्याः जयन्ति निराकुर्वन्ति दुःखं संसारपरिभ्रमणक्लेशं, किमिव कथंभूत के ? इत्याह——गाङ्गमित्यादि–गङ्गाया अयं गाङ्गो ह्रदस्तं, कथंभूतं ? चन्दनपङ्कशीतं चन्दनस्य पङ्को जलकर्दमस्तस्य शीतमिव शीतं यस्य तं प्राप्य गजप्रवेका इव गजानां प्रवेकाः प्रवराः यथा घर्मेण तप्ता घर्मतप्ताः जयन्ति दुःखमिति ॥ ४ ॥

उत्पन्न हुए भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं——

अन्वयार्थ—(येन) जिन अजितनाथ भगवान् के द्वारा (प्रणीतं) प्रकाशित (पृथु) अत्यन्त विस्तृत एवं (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म के प्रतिपादक श्रुत को (प्राप्य) पाकर (जनाः) भव्यजीव (दुःखं) संसार परिभ्रमण रूप क्लेश को उस तरह (जयन्ति) जीत

---

१ अतिशयेन प्रशस्यं ज्येष्ठं, 'प्रशस्य श्रः' इति श्र आदेशे श्रेष्ठं 'ज्या च' इति ज्या आदेशे ज्येष्ठं भवति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेते हैं जिस तरह कि (घर्मं तप्ताः) सूर्य के आताप से पीडित (गज प्रवेकाः) बड़े बड़े हाथी (चन्दन पङ्क शीतं) चन्दन के द्रव के समान शीतल (गाङ्ग ह्रदं) गङ्गा नदी के द्रह–अगाध जल को पाकर सूर्य के संताप से उत्पन्न दुःख को जीत लेते हैं ।

भावार्थ—उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्म रूप आत्मा की परिणति अथवा चारित्र को धर्म कहते हैं इस धर्म का प्रतिपादन करने वाला परमागम तीर्थ कहलाता है । भगवान अजितनाथ ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा जिस परमागम रूप धर्म तीर्थ का प्रकाश किया था वह द्वादशांङ्ग में विस्तृत होने के कारण अत्यन्त महान् है और समस्त धर्मतीर्थों में प्रधान होने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ है । इस परमागम की शरण पाकर भव्य जीव चतुर्गति के परिभ्रमणजन्य क्लेश से उस तरह छूट जाते हैं जिस तरह कि घाम से पीडित हाथी गङ्गानदी के अत्यन्त शीतल अगाध जल को पाकर गर्मी के दुःख से छूट जाते हैं ॥ ८ ॥

ननु किं फलमुद्दिश्य भगवता धर्मतीर्थं प्रणीतमित्याह—

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु । र्विद्याविनिर्वान्तकषाय दोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोजितात्मा । जिनश्रियं मे भगवान विधत्ताम् ॥५॥

स ब्रह्मनिष्ठ इत्यादि—सोऽजितो भगवान् ब्रह्मनिष्ठः ब्रह्मणि सकलदोष रहिते परमात्मस्वरूपे निष्ठा परिसमाप्तिर्यस्य, अतो न किञ्चित् तत्प्रणयने फलमसावपेक्षते कृतकृत्यत्वात् केवलं परार्थैवास्य प्रवृत्तिः । अतएव सममित्रशत्रुः मित्राणि च शत्रवश्च मित्रशत्रवस्ते समा यस्य, कथ मसौ ब्रह्मनिष्ठः कथं वा सममित्रशत्रुरित्याह—विद्येत्यादिविद्यया परमागमज्ञान तदर्थानुष्ठानलक्षणया विशेषेण निर्वान्ताः सुत्यक्ताः कषाया द्रव्यक्रोधादयो दोषा भावक्रोधादयो येन निराकृतद्रव्यंभावरूपघातिकर्ममलकलङ्क इत्यर्थः । यत एवं विधोऽसौ ततो ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुश्च भवति । भवतु तथा विधोऽसौ तन्निष्ठस्तथापि तदा चैतन्य मात्र स्वरूपः किञ्चिज्ज्ञो वा भविष्यति अतः कथं धर्मतीर्थं प्रणीतवानित्याह—लब्धात्मलक्ष्मीरिति—आत्मनो लक्ष्मीरनन्तज्ञानादिलक्षणा लब्धा प्राप्ता सा येनासौ लब्धात्मलक्ष्मीः, 'समासान्तो विधिरनित्य' इति वचनात् 'ऋन्मोः' इति कः प्रत्ययो न भवति इत्थंभूतः अजितः अन्तरङ्गैर्बाह्यैश्च शत्रुभिर्न जीयत इत्यजितः, जितात्मा जित आत्मा येनासौ जितात्मा आत्मवान् इत्यर्थः इन्द्रियाधीनो न भवतीति यावत् । भगवान् विशिष्टज्ञानवान् पूज्यो वा विधत्ताम् करोतु, कां ? जिनश्रियं जिनस्य श्रीरनन्तज्ञानादिविभूतिस्तां मे मह्यम् ॥ ५ ॥

१ शुद्धात्मस्वरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किस फल का लक्ष्य कर भगवान् ने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की. यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विद्याविनिर्वान्ति कषाय दोषः) जिन्होंने परमागम के ज्ञान और उसमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग के अनुष्ठान रूप विद्या के द्वारा कषाय रूपी दोषों को अथवा द्रव्यक्रोधादिरूप कषाय और भावक्रोधादि रूप दोषों को बिल्कुल नष्ट कर दिया है, जो (ब्रह्मनिष्ठः) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हैं, (सममित्रशत्रुः) जिन्हें मित्र और शत्रु समान हैं, (लब्धात्मलक्ष्मीः) जो आत्मा की अनन्त ज्ञानादिरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर चुके हैं, और जितात्मा) जिन्होंने अपने आप को जीत लिया है अर्थात् जो इन्द्रियों के आधीन नहीं हैं (सः) वे (अजितः भगवान्) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओं के द्वारा अपराजित अजितनाथ भगवान् (महचम् मेरे लिये (जिनश्रियम्) आर्हन्त्यलक्ष्मी—अनन्त ज्ञानादि विभूति (विधताम्) प्रदान करें।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और तदनुरूप आचरण से जिनके क्रोधादि कषाय नष्ट हो गये हैं तथा इसके फल स्वरूप जिनका उपयोग बाहय पदार्थों में न जाकर शुद्ध आत्म स्वरुप में लग रहा है। क्रोधादि कषायों के नष्ट हो जाने से जिन्हें शत्रु और मित्र समान प्रतिभासित होने लगे हैं, जिन्हें राग द्वेष से रहित शुद्ध आत्मलक्ष्मी—अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य की प्राप्ति हो चुकी है तथा कषाय के नष्ट हो जाने से जिनका विषयानुराग समाप्त हो गया है इसीलिये विषयों में प्रवर्तक इन्द्रियां जिन्हें अपने आधीन नहीं कर सकी हैं वे उत्कृष्ट ज्ञान अथवा अचिन्त्य ऐश्वर्य के धारक अजितनाथ तीर्थंकर मेरे लिये जिनलक्ष्मी—अनन्तचतुष्टय रूप विभूति प्रदान करें ॥ ५ ॥

इत्यजितजिन स्तवनम्

श्री शम्भव जिनस्तवनम्

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः। संतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो। यथाऽनाथरूजां प्रशान्त्यै ॥१॥

त्वं शम्भवेत्यादि—१इन्द्रवज्राछन्दः। समन्तभद्रस्वामी तृतीयतीर्थंकरदेवं चेतसि प्रत्यक्षरूपतया व्यवस्थाप्य त्वमित्याद्याह। शंभव इत्यन्वर्था संज्ञेयम्, शं सुखं भवत्यस्मा-द्भव्याना मिति शंभवः। एतदेव दर्शयन्नाह—संभवेत्यादि—सं सुखं भवति येभ्यस्ते संभवाः स्रग्वनितादयः, यदि वा संगतोऽत्युव्यद्रूपो भवः प्रादुर्भावो यत्रासौ संभवः संसारस्तत्र तर्षास्तृष्णास्ता एव रोगा दुःख हेतुत्वात् तै संतप्यमानस्य पीड्यमानस्य जनस्य प्राणि गणस्य आसीरभूर्वैद्यः। क्व ? इह लोके इह जगति। कथंभूतः ? आकस्मिक एव तत्फल निरपेक्ष एव। अत्र दृष्टान्तमाह-वैद्यो यथेत्यादि-वैद्यश्चिकित्सकः यथा येन फलानपेक्षप्रकारेण

१'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, जिसके प्रत्येक चरण में तगण, तगण, जगण, गुरु और गुरु इस प्रकार ग्यारह अक्षर हों उसे इन्द्र वज्रा कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाथरुजां अनाथा अशरणा द्रव्यसहायहीनास्तेषां रुजो व्याधयस्तासां प्रशान्त्यै उपशमनाय आकस्मिक एव वैद्योऽभूत् तथा त्वमप्यासीः ।। १ ।।

भगवान् के शंभव नामकी सार्थकता बतलाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वं शंभवः) आप से भव्य जीवों को सुख प्राप्त होता है इसलिये आप 'शंभव' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले हैं ! आप (इह लोके) इस संसार में (संभव-तर्षरोगैः) सांसारिक भोग तृष्णा रूप रोगों से (संतप्यमानस्य) अतिशय पीडित (जनस्य) जन समूह के लिये (तथा) उस तरह (आकस्मिक एव) फल की अपेक्षा से रहित (वैद्यः) वैद्य (आसीः) हुए थे (यथा) जिस तरह कि (अनाथरुजाम्) अशरण मनुष्यों के रोगों की (प्रशान्त्यै) शान्ति के लिये (वैद्यः) धनादि की इच्छा से रहित वैद्य होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस संसार के भीतर प्राणी भोगोपभोगों की तृष्णा रूपी रोगों से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं उन सबका दुःख दूर करनेके लिये आप प्रतिफल की इच्छासे रहित एक उत्तम वैद्य के समान प्रकट हुए थे। जिस प्रकार द्रव्य तथा सहायकों से रहित अनाथ मनुष्यों के रोगों को प्रशान्त करने के लिये कोई कृपालु निःस्पृह वैद्य प्रकट होता है उसी प्रकार आप भी प्रकट हुए थे अतः आपका 'शंभव' यह नाम अत्यन्त सार्थक है ।। १ ।।

यस्य जगतो भगवानाकस्मिको वैद्यः सम्पन्न स्तत्कीदृशमित्याह––

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः । प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं । निरञ्जनां शान्ति मजीगमस्त्वम् ।।२।।

अनित्यमित्यादि––१उपेन्द्रवज्राछन्दः । इदं प्रतीयमानं जगत्प्राणिसंघातः, कथंभूतम् ? अनित्यं विनश्वरम्, अनेन सर्वमाविर्भावतिरोभाववदिति सांख्यमतं प्रत्युक्तम् । पुनरपि कथंभूतम् ? अत्राणं न विद्यते त्राणं रक्षणमस्येत्यत्राण मशरणमित्यर्थः, अनेनेश्वरो वा विष्णुर्वा तस्य त्रातेति यौगमीमांसक मतं निरस्तम् । कथं तदत्राण मित्याह–अहंक्रियाभिरित्यादि–अहमस्य सर्वस्य स्त्र्यादिविषयस्य स्वामीतिक्रियाः अहंक्रियास्ताभिः, प्रसक्तः संलग्नः प्रवृत्तो वा मिथ्या असत्योऽध्यवसायोऽभिनिवेशः स एव दोषो यस्य तत्तथोक्तं । अतएव जन्मजरान्तकार्तं तत् जन्म प्रादुर्भावो जरा वृद्धत्वं अन्तको मरणं तैरार्तं पीडितं तदित्थंभूतं जगत् किं कृतवान् भवा नित्याह–निरञ्जनामित्यादि–शान्ति परमकल्याणं अजीगमस्त्वं इदं जगत्प्रापितवांस्त्वम् । कथंभूतां ? निरञ्जनां अञ्जनात्कर्ममलान्निष्क्रान्तं तद्वा निष्क्रान्तं यस्याः सा निरञ्जनाता मुक्तिरूपामित्यर्थः ।। ३ ।।

---

१ 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और दो गुरु हों उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस संसार के भगवान् आकस्मिक वैद्य हुए वह कैसा है यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनित्यम्) विनश्वर (अत्रार्णम्) रक्षक रहित, (अहंक्रियाभिः) 'मैं' ही सब पदार्थों का कर्त्ता धर्त्ता हूँ' इस प्रकार अहंकार ममकार की क्रियाओं से संलग्न मिथ्याअभिनिवेश रूप दोष से दूषित तथा (जन्मजरान्तकार्त्तं) जन्म बुढ़ापा और मृत्यु से पीडित (इदं जगत्) इस जगत् को (त्वम्) आपने निरञ्जनां) कर्म कलङ्क से रहित मुक्ति रूप (शान्तिं) शान्ति को (आजीगमः) प्राप्त कराया है।

भावार्थ—यह संसार विनाशीक है रक्षक से रहित है, मिथ्या अभिप्राय के कारण वाह्यपदार्थों का कर्त्ता धर्त्ता बन कर दुःखी हो रहा है तथा इसके फलस्वरूप जन्मजरा और मरण रूप दुःख से निरन्तर पीडित हो रहा है। हे भगवन् ! जिस विपन्न संसार को आपने कर्ममल कलङ्क से रहित अविनाशी मोक्षरूपी शान्ति का स्वरूप बता कर उसे सुखं सम्पन्न किया है ॥२॥

अपरंच किं कृतवांस्त्वमित्याह—

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं । तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

शतह्लदोन्मेषेत्यादि—उपजातिच्छन्दः । शतह्लदा विद्युत् तस्या उन्मेष उन्मीलनं स इव चलंअस्थिरं इन्द्रियसुखं । कथंभूतं तदित्याह—तृष्णेत्यादि—तृष्णा संसारसुखाभिलाषः सैव आमयो व्याधिःतस्याप्यायनमात्रं पुष्टिमात्रं तस्य हेतुः । तत्पुष्टिश्च किं करोतीत्याह तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्त्रं । तृष्णाया अभिवृद्धिः पुष्टिः तपति संतापयति अजस्त्रं अनवरतं तज्जनिततापो जगतः किं करोति तदाह--ताप इत्यादि । तापस्तज्जगदायासयति अनेकदुःखपरम्परया क्लेशयत्ति । सेवादिक्रियासु वा प्रवर्तयति इति एवं जगतः संबोधनार्थं त्वमेव अवादीः ।

इसके सिवाय आपने क्या किया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (सौख्यं) इन्द्रिय जन्य सुख (शत ह्लदोन्मेषचलं) बिजली की कौंद के समान चञ्चल है तथा (तृष्णामयाप्यायन मात्रहेतुः) तृष्णा रूपी रोग की पुष्टि मात्र का कारण है। (च) और (तृष्णाभिवृद्धि) तृष्णा की चौमुखी वृद्धि (अजस्रं) निरन्तर (तपति) ताप उत्पन्न करती है, एवं वह (तापः) ताप (तत्) जगत् को (आयासयति) क्लेशों की परम्परा द्वारा दुखी करता है'' '' (इति अवादीः) ऐसा आपने कहा था।

भावार्थ—संसार के प्राणी जिस इन्द्रिय जन्य सुख के पीछे पड़ रहे हैं वह सुख बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है, तृष्णा रूपी रोगों को बढ़ाने वाला है, तृष्णा कीवृद्धि निरन्तर संताप—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकुलता को बढ़ाती रहती है और वह संताप प्राणियों को सेवा कृषि आदि कार्यों में संलग्न कर दुखी करता रहता है इस तरह दुःख का यथार्थ निदान शंभवनाथ भगवान् ने संसार के प्राणियों को बताया था ॥ ३ ॥

ननु सुगतादिभिरपि तत्संबोधनार्थं बन्धाद्युपदेशः कृतोऽतस्त्वमेवावादीरित्ययुक्तमिति चेत् ? तन्न तन्मते बन्धमोक्षादेरेवासभवात् । एतदेवाह—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू । बद्धश्च मुक्तश्च फलंच मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्त । नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

बन्धश्चेत्यादि—इन्द्र वज्राच्छन्दः । जीवस्य कर्मणा संश्लेषो बन्धः, विश्लेषो मोक्षः चकारः परस्परसमुच्चये तयोर्बन्धमोक्षयोर्हेतू च, बन्धस्य हेतु मिथ्यात्वादिर्मोक्षस्य हेतुः सम्यग्दर्शनादिः । न केवलमेतत्किन्त्वन्यदपि, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः—य एव पूर्वं बद्धः स एव पश्चात् मुक्तः, तस्यैव च मुक्तेः फलमनन्तज्ञानादिलक्षणसंपन्न मित्येतत्सर्वं तवैव शंभवस्यैव कथंभूतस्य ! स्याद्वादिनोऽनेकान्त वादिनो मते युक्तमुपपन्नं नैकान्तदृष्टेः सुगतादेर्मते । नहि क्षणिकैकान्तवादिनो मतेन तत् घटते तत्र हि अन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते क्षणिकत्वात्, अन्यस्य बन्धकारणानुष्ठानमन्यस्य च बन्धः, अन्यस्य मुक्तिकारणानुष्ठानमन्यस्य च मुक्ति रिति । नापि नित्यैकान्तवादिनो मते एतद् घटते तत्र हि यदि बद्धस्तदा बद्ध एव स्यादात्मा न मुक्तः, अथ मुक्तस्तदा मुक्त एव स्यान्न बद्धः सर्वथैक रूपत्वात् अन्यथा नित्यैकान्त विरोधः अतः सर्वथैकान्तवादिमते बन्धमोक्षादेरनुपपत्तेः हे नाथ स्वामिन् ! त्वमेव असि भवसि शास्ता तत्वोपदेष्टा ॥ ४ ॥

आगे बन्ध मोक्ष की व्यवस्था आपके ही मन में बनती है सुगत आदि के मन में नहीं यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् (बन्धश्च) बन्ध. (मोक्षश्च) मोक्ष, (तयोर्हेतू च) बन्ध और मोक्ष के हेतु (बद्धश्च) बद्ध आत्मा (मुक्तश्च) मुक्त आत्मा (च) और (मुक्तेः) मुक्ति का (फलं) फल··· यह सब (स्याद्वादिनः) अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले (तवैव) आपके ही [मते] मत में (युक्तं) ठीक होता है (एकान्तदृष्टेः न) एकान्तदृष्टि रखने वाले बौद्ध अथवा सांख्य आदि के मत में ठीक नहीं होता (अतः) इसलिये (त्वम्) आप ही (शास्ता) तत्त्वोपदेष्टा हैं ।

भावार्थ—जीव का कर्मों के साथ जो एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है वह बन्ध कहलाता है । जीव का कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छूट जाना मोक्ष कहा जाता है । मिथ्यादर्शन आदि विकारी भाव बन्ध के कारण हैं । सम्यग्दर्शन आदि आत्मीयगुण मोक्ष के कारण हैं । कर्मपिण्ड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से युक्त आत्मा बद्ध है। कर्म-पिण्ड से रहित आत्मा मुक्त है तथा अनन्तज्ञान आदि आठ गुणों का प्रकट होजाना मुक्ति का फल है इन सब की व्यवस्था हे शंभव जिनेन्द्र ! आपके ही मत में बनती है क्योंकि आप स्याद्वादी हैं–अनेकान्त की दृष्टि से पदार्थ का निरूपण करते हैं। आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है इसलिये द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा यह बात संगत हो जाती है कि जिस आत्मा ने पहले कर्मबन्ध किया था वही आत्मा सम्यग्दर्शनादि अन्तरङ्ग और तपश्चरण आदि बहिरङ्ग कारण के मिलने पर मुक्त हो जाता है। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा की बद्ध और मुक्त दशा संगत हो जाती है। बौद्ध आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं इसलिये उनके मत में बन्ध किसी का होता है तो मोक्ष किसी दूसरे का होता है क्योंकि बन्ध करने वाला आत्मा सर्वथा क्षणिक होने से बन्ध करते ही नष्ट हो जाता है अतः मोक्ष किसी दूसरे का होता है। सांख्य मत वाले आत्मा को सर्वथा नित्य मानते हैं इसलिये उनके मतानुसार जो आत्मा बद्ध है वह बद्ध ही रहेगा और जो मुक्त है वह मुक्त ही रहेगा क्योंकि एक ही आत्मा की क्रम से बद्ध और मुक्त दशा मानने पर आत्मा में अनित्यता आजाने से सर्वथा नित्य का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। योग दर्शन–नैयायिक मतवाले मानते हैं कि मुक्ति में बुद्धि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि विशिष्ट गुणों का सर्वथा अभाव हो जाता है जब कि आपका कथन है कि जिस पदार्थ का जो गुण है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता अतः मुक्ति अवस्था में बुद्धि एवं सुख आदि का सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु बुद्धि अर्थात् ज्ञानगुण की जो क्षायोपशमिक अवस्था थी वह नष्ट होकर क्षायिक अवस्था हो जाती है। इसी तरह सुख की जो विषयजन्य अवस्था थी वह नष्ट होकर अव्याबाध सुख रूप अवस्था हो जाती है। इसी तरह अन्य गुणों में समझना चाहिये। इस प्रकार मुक्ति का फल अनन्त ज्ञानादि गुणों का प्रकट होना है। यह सब व्यवस्था आपके ही मत से ठीक बैठती है इसलिये यथार्थ उपदेष्टा आप ही हैं॥ ४॥

सांख्य ५

स्तोता स्वात्मनः औद्धत्यं परिहरन्नाह—

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः॥५

शक्रोऽपीत्यादि—उपजातिच्छन्दः। शक्रः इन्द्रः सोऽपि अवधिज्ञान संपन्नः सकल-श्रुतधरोऽप्य शक्तोऽसमर्थः। कथंभूतः ? स्तुत्यां स्तवने प्रवृत्तः सन्, कस्य ? तव शंभव-तीर्थंकरदेवस्य, कथंभूतस्य ? पुण्यकीर्तेः पुण्या प्रशस्ता निर्मला कीर्तिः ख्यातिः वाणी वा 'कीर्त्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते जीवाद्यर्था ययेति' व्युत्पत्तेः, पुण्याय पुण्यनिमित्तं वा कीर्तिः कीर्तनं स्तुतिर्यस्य तस्य। किमु पुनः मादृशो मनुष्यमात्रोऽज्ञो बुद्ध्यादिविशिष्टज्ञानविकलः शक्तो भविष्यति। तथापि अशक्तेनापि मया भक्त्यानुरागेण स्तुतपादपद्मः पादावेवपद्मौ पादपद्मौ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुतौ पादपद्मौ यस्य । गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यते समाश्रीयते इत्यार्यः तस्य सम्बोधनं हे आर्य ! मम स्तावकस्य देयाः दद्या स्त्वं भगवान् कां ? शिवतातिं, तायृ सन्तान पालनयोः तायनं तातिः शिवस्य सौख्यस्य तातिः संतानः शिवतातिस्तामुच्चैः परमातिशयप्राप्तां मोक्ष-सौख्यसन्ततिरूपाम् ।।५।।

आगे स्तुति कर्ता अपने गर्व का परिहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे आर्य !) गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा सेव्य हे शंभव जिनेन्द्र ! (पुण्य-कीर्तेः) पवित्र ख्याति, पवित्र वाणी अथवा पुण्यवर्धक स्तुति से युक्त (तव) आपकी (स्तुत्यां) स्तुति में (प्रवृत्त.) प्रवृत्त हुआ (शक्रःअपि) अवधिज्ञानी और समस्त श्रुत का धारक इन्द्र भी जब (अशक्तः) असमर्थ रहा है तब (मादृशः अज्ञः किमु) मेरे जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है ? यद्यपि यह बात है (तथापि) तो भी (भक्त्या) तीव्र अनुराग द्वारा (स्तुतपादपद्मः) स्तुत चरण कमलों से युक्त आप (मम) मेरे लिये (उच्चैः) उत्कृष्ट (शिवतातिम्) यथार्थ सुखकी सन्तति को (देयाः) प्रदान करें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब शक्ति का पुञ्ज अवधि ज्ञानी इन्द्र भी आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो सका है तब मेरा जैसा अज्ञानी मानव कैसे समर्थ हो सकता है ? इस तरह असमर्थता की दशा में भी तीव्र अनुराग वश मैं आपके चरण कमलों की स्तुति कर रहा हूँ सो इसके फल स्वरूप आप मुझे उत्कृष्ट आत्मसुख की सन्तति प्रदान करें मुझे सांसारिक सुखों की चाह नहीं है ।।५।।

इति शंभवजिनस्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीअभिनन्दनजिनस्तवनम्

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥

गुणाभिनन्दादित्यादि—१वंशस्थछन्दः । भवान् चतुर्थतीर्थकरदेवोऽभिनन्दनोऽभिनन्दननामा, कस्मात् ? गुणाभिनन्दात् गुणानामन्तरङ्गानन्त ज्ञानादीनां बहिश्च सकललक्ष्म्यादीना मभिनन्दोऽभिवृद्धिस्तस्मात् । उत्पन्ने हि भगवति सकल प्राणिनां ज्ञानादयः सकलसंपदश्च वृद्धिगता इति इत्थमेतल्लब्धनामा भवान् किं कृतवान् ? अशिश्रियत् समाश्रितवान्, कां ? दयावधूं, दयैव वधूः प्रियतमा तां, कथंभूतां ? क्षान्तिसखीं क्षान्तिः क्षमा सखी यस्यास्ताम् । अनेन सुगतस्य मात्रुदरं विपाद्य निर्गतस्य ईश्वरस्य च त्रिपुर दहनादौ प्रवृत्तस्य क्षान्तिदययोरभावादाप्तत्वं प्रत्याख्यातं । ततः किंविशिष्टोऽसौ सम्पन्नः ? समाधितन्त्रः धर्म्यं शुक्लं च ध्याने समाधिः स तन्त्रः प्रधानं यस्य । यदि तत्तन्त्रोऽसौ तदा किमिति नैर्ग्रन्थ्ये कृतादर इत्याहतदित्यादि—तस्य समाधेरुपपत्तिर्घटना तस्यै च तदुपोपपत्तये 'प्रोपोत्समां पादपूरणे' इति द्वित्वम् । अयुजत् युक्तः । केन ? नैर्ग्रन्थ्यगुणेन, कथंभूतेन ? द्वयेन बाह्याभ्यन्तर परिग्रह—परित्यागरूपेण । अनेन श्वेतपटाः प्रत्युक्ताः परिग्रहवता मेकाग्रतालक्षणध्यानानुपपत्तेः परिग्रहस्य व्यग्रता हेतुत्व ग्रहात् ॥१॥

भगवान् के अभिनन्दन नाम की सार्थकता कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (गुणाभिनन्दात्) अनन्तज्ञानादि अन्तरङ्ग और सकल लक्ष्मी आदि बहिरङ्ग गुणों की वृद्धि होने से (अभिनन्दन) अभिनन्दन इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (भवान्) आपने (क्षान्तिसखीं) क्षमारूप सखी से सहित (दयावधूम्) दया रूप स्त्री का (अशिश्रियत्) आश्रय लिया था तथा (समाधितन्त्रः) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूप समाधि को प्रधान लक्ष्य बना कर (तदुपोपपत्तये) उसकी सिद्धि के लिये आप (द्वयेन) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से दोनों प्रकार के (नैर्ग्रन्थ्यगुणेन) निष्परिग्रहता रूप गुण से (अयुजत्) युक्त हुए थे ।

'१ जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण इस प्रकार बारह अक्षर हों उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—भगवान् अभिनन्दन नाथ के उत्पन्न होते ही समस्त प्राणियों के ज्ञान आदि गुण तथा संपदाएं वृद्धि को प्राप्त हुई थीं इसलिये उनका अभिनन्दन नाम सार्थक था। दूसरे जीवों का दुःख दूर करने का शुभरागमिश्रित जो भाव है उसे दया कहते हैं तथा क्रोधादि कषायों के अभाव में प्रकट होने वाली आत्मा की जो शान्ति रूप परिणति है उसे क्षान्ति या क्षमा कहते हैं। '१रागादि भावों का उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है' इस लक्षण के अनुसार इस क्षमा को अहिंसा कह सकते हैं इस तरह भगवान् ने दया और क्षमा दोनों को अपनाया था। अर्थात् प्रारम्भ में अपायविचय नामक धर्म्यध्यान में लीन होकर दया को आश्रय दिया था और पश्चात् शुक्लध्यान में लीन होकर क्षमारूप वीतराग परिणति को आश्रय दिया था। कर्मक्षय का साक्षात् कारण शुक्लध्यान है और उसकी प्राप्ति बिना निष्परिग्रह दशा के नहीं हो सकती क्योंकि परिग्रह व्यग्रता का कारण माना गया है इसी लिये उन्होंने बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर पूर्णनिर्ग्रन्थता से अपने आपको युक्त किया था॥ १॥

दयावधूं समाश्रित्य भगवान् लोके किं कृतवा नित्याह—

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात्।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥२॥

अचेतन इत्यादि—जगत्तत्वमजिग्रह दिति सम्बन्धः। कथंभूतं जगत ? क्षतं नष्टं कुत इत्याह–अचेतने इत्यादि अचेतने शरीरे तत्कृतबन्धजेऽपि चेतनाचेतनेन शरीरेण सहायः कृतः कर्मवशादात्मनो बन्धस्तस्माज्जातं यत्सुखदुःखादि पुत्र कलत्रादि च तस्मिन्नपि संभावने च समुच्चये, तस्मिन् योऽसौ ममेदं शरीरादिक महमस्य स्वामीत्यभिनिवेश स्तस्मिन् भव आभिनिवेशिकः सचासौ ग्रहश्च ग्रहणं तस्मात् क्षतं नष्टं जगत् प्राणिसंघातः न केवलमेतस्मात् क्षतं नष्टं प्रभङ्गुरे कथञ्चिदनित्ये च स्थावरनिश्चयेन च नित्यत्वाध्यवसायेन च क्षतं जगत्। अतस्तत्वं यथावज्जीवादि स्वरूपं अजिग्रहद् ग्राहितवान्, भवानभिनन्दनस्वामी ॥ २॥

अब दयारूप वधू को प्राप्त कर भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अचेतने) अचेतन शरीर में (च) और (तत्कृतबन्धजेऽपि) उस अचेतन

१ अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर के द्वारा किये हुए कर्मबन्ध से उत्पन्न सुख दुःखादिक तथा स्त्री पुत्रादि पर पदार्थों में (ममेदम्) यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ (इति) इस प्रकार के (अभिनिवेशिक ग्रहात्) मिथ्या अभिप्राय को स्वीकार करने से अथवा मिथ्या अभिप्राय रूप पिशाच से (च) तथा (प्रभङ्गुरे) विनश्वर शरीर पर पदार्थ में (स्थावर निश्चयेन) स्थायित्व के निश्चय से (क्षतं) नष्ट हुए (जगत्) जगत् को (भवान्) आपने (तत्वं) जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप (अजिग्रहत्) ग्रहण कराया है—समझाया है।

भावार्थ—यह शरीर पुद्गल कृत होने से अचेतन है, अचेतन शरीर की प्रवृत्तिरूप योग से होने वाला द्रव्य कर्मों का बन्ध अचेतन है और उस द्रव्य बन्ध के फल स्वरूप होनेवाला सुख दुःखादि तथा स्त्री पुत्रादि में जो राग भाव है वह निमित्त कारण की अपेक्षा अचेतन–चेतन से भिन्न हैं और उपादान कारण की अपेक्षा चेतन है। शरीर रूप नो कर्म, द्रव्य बन्ध रूप द्रव्य कर्म और रागादि रूप भाव कर्म ये तीनों ही ज्ञानानन्द रूप आत्मस्वरूप से भिन्न पदार्थ हैं परन्तु अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्व के प्रकोप से यह जीव उन्हें आत्मा समझ रहा है तथा इसी विपरीत अभिप्राय के कारण उन शरीरादि परपदार्थों की इष्ट अनिष्ट परिणति से सुखी दुखी होता है। इसके सिवाय ये शरीरादिक पर पदार्थ भङ्गुर हैं–विनाशीक हैं परन्तु यह जगत् उन्हें नित्य समझ कर उन्हीं में आसक्त होकर आत्मा की संभाल से दूर रहता है। हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! अपनी उपर्युक्त मिथ्याबुद्धि के कारण दुःखी होते हुए इस जगत् को आपने जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझाया है। आपने उन्हें बताया है कि ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा निज द्रव्य है उसे छोड कर पर पदार्थों से ममता भाव को दूर करो तथा शरीरादिक पर पदार्थों को विनश्वर समझ कर उनकी ओर से आसक्ति को हटाओ तथा स्वरूप की ओर सुरुचि बढाओ ॥ २ ॥

केन रूपेण तत्व मजिग्रह दित्याह—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्नचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो रितीद मित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ३

क्षुदावीत्यादि—क्षुद्बुभुक्षा आदिर्यस्य पिपासादि स्तदेव दुःखं तस्माद्वा दुःखं तस्य प्रतिकारो भोजनादिना उपशमनं तृप्ति सुखोत्पाद इत्यर्थः। तस्मात्ततः स्थितिः देहदेहिनो स्तृप्ति सुखसमन्वितयोः सर्वदा अवस्थानं न च नैव, कुतः ? पुनरपि क्षुदादि पीडोपलम्भात् तर्हि मनोज्ञरूपशब्दादि विषय प्रभव सुखात् तयोः सुखेनावस्थानं भविष्यतीत्याह–नचेत्यादि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि अर्था स्तद्विषयाः स्पर्शादयस्तेभ्यः प्रभवत्युत्पद्यते इतीन्द्रियार्थप्रभवं तच्च तदल्पसौख्यं च सुखलवमात्रं तस्मात्ततः न च नैव स्थितिः सुखेनावस्थानं देहदेहिनो रिति सम्बन्धः। यत एवं ततः कारणाद्गुणोपकारो नास्ति च न विद्यते। एवं क्षुदादि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिकारादिभ्यः, कयोर्देहदेहिनोः इति हेतोः । एवं इदं जगत् इत्थमनेन प्रकारेण भगवानभिनन्दनः तीर्थंकरदेवो व्यजिज्ञपत् ज्ञापितवान् ॥ ३ ॥

आगे आपने किस रूप से तत्व ग्रहण कराया यह कहते हैं--

अन्वयार्थ--(क्षुदादि दुःख प्रतिकारतः) क्षुधा तृषा आदि के दुःख का प्रतिकार करने से भोजन पान ग्रहण करने से (च) और (इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः) स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न अल्प सुख से (देहदेहिनोः) शरीर और शरीर धारी आत्मा की (स्थितिः) सदा स्थिति नहीं रहती (ततः) इसलिये उनसे उनका कुछ (गुणः) उपकार (नास्ति) नहीं है (इत्थम्) इस तरह (इदम्) इस जगत् को [भगवान्] भगवान् अभिनन्दन जिनेन्द्र ने [इति] यह परमार्थ तत्त्व [व्यजिज्ञपत्] बतलाया है ।

भावार्थ--संसार के प्राणी भूख प्यास आदि के दुःखों से दुखी होकर रात दिन भोजन पान में प्रवृत्त रहते हैं और सोचते हैं कि भोजन पान से शरीर स्थिर रहेगा तथा शरीर की स्थिरता से आत्मा भी स्थिर रहेगा परन्तु ऐसा होता नहीं है भोजन पान ग्रहण करते करते शरीर नष्ट हो जाता है और शरीर के नष्ट होने से आत्मा अन्य पर्याय में चला जाता है । इसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों के सेवन से जो अल्प सुख होता है-क्षणिक तृप्ति होती है उससे भी शरीर और आत्मा की सदा स्थिति नहीं रहती । ये इन्द्रिय जन्य सुख तृप्ति उत्पन्न न कर विषयाभिलाषा को पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रदीप्त कर देते हैं इनसे शरीर और आत्मा को कोई लाभ नहीं है इसलिये इनसे राग घटा कर आत्म स्वरूप की ओर ही दृष्टि देना चाहिये । हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ? जगत् के जीवों को आपने यह यथार्थ तत्व समझाया है ॥ ३ ॥

इदं च परमकारुणिको जगदुपकारार्थं भगवानवादीदित्याह—

जनोऽतिलोलोऽप्यनु बन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनु बन्धदोष वित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥

जनोतिलोल इत्यादि—जनो लोको अतिलोलोऽप्यतिविषयासक्तोऽपि अनुबन्धः आसक्तिः स एव दोषः ऐहिकपारत्रिका पायहेतुत्वात्तस्मादनुबन्धदोषतः परमासक्तिवशादपि अकार्येषु अकृत्येषु परस्त्रीगमनादिषु इह लोके न प्रवर्तते, कस्मात् ? भयाद् राजादि त्रासात् । यस्तु जन इहास्मिन्नपि जन्मनि अमुत्रापि च परलोकेऽपि च अनुबन्धदोष वित् विषयासक्तिदोषवेदकः स कथं सुखे वैषयिके संसजति सम्बन्धमुपयातीति आश्चर्यमिति चाब्रवीत् उक्तवान् ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम दयालु भगवान ने जगत् के उपकार के लिये यह कहा यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जनः) मनुष्य (अतिलोलः अपि 'सन्') अत्यन्त आसक्त होता हुआ भी (अनुबन्धदोषतः) आसक्ति रुप दोष से (भयात्) राजा आदि के भय के कारण (इह) इस संसार में (अकार्येषु) परस्त्री सेवन आदि अकरणीय कार्यो में (न प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होता है फिर (इहापिअमुत्रापि) इस लोक और पर लोक दोनों ही जगह (अनुबन्ध दोषवित्) आसक्ति के दोष को जानने वाला मनुष्य (सुखे) विषय सुख में (कथं संसजति) कैसे आसक्त होता है यह आश्चर्य की वात है (इति च अब्रवीत्) हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! जगत् के जीवों को आपने यह भी बतलाया है।

भावार्थ—विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाला मनुष्य भी आसक्ति के दोष को जानता है इसलिये राजा आदि के भय से वह कभी न करने योग्य कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता फिर जो मनुष्य यह समझता है कि विषयासक्ति से इस जन्म में अनेक दुःख भोगना पड़ते हैं और पर जन्म में भी नरकादि गतियों के दुःख सहन करना पड़ते हैं वह क्षणिक तृप्ति करने वाले इन्द्रियसुख में कैसे आसक्त हो जाता है यह आश्चर्य की वात है। हे भगवन्। आपने जगत् के जीवों को यह परमार्थ समझा कर इन्द्रिय सुख से विरक्त किया था॥ ४॥

अत्रैवानु[1]बन्धदोषान्तरं दर्शयन्नाह—

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः॥ ५॥

सचानुबन्ध इत्यादि—चकारो भिन्नप्रक्रम स्तृषोऽभिवृद्धि रित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। सोऽनन्तरोक्तोऽनुबन्धोऽस्य विषयातिलोलस्य तापकः क्लेशप्रदः, न केवल मनुबन्धस्तापकः तृषोऽभिवृद्धिश्च। यावति स्त्र्यादिविषये सुवर्णाद्यर्थे वा आसक्तिलक्षणोऽनुबन्धः संजातः, तस्मिन् संपन्नेऽपि इतोऽप्यपरं यदि मम स्यात्ततोऽपर मित्युत्तरोत्त राकाङ्क्षा तृषोऽभिवृद्धिः सा च तापिका तदलाभे तत्प्राप्त्यर्थं तल्लाभे तत्संरक्षणाद्यर्थं च संतापप्रबन्धस्य प्रवृत्तेः। ननु विषयसुखं प्राप्य संतापविवर्जिता जनस्य स्थितिर्भविष्यतीत्याह—सुखतो न च स्थितिः सुखतःसंप्राप्तविषयसुखलवमात्रादस्य जनस्य न च नैव स्थितिः सुखेनावस्थानं पुनः संताप-प्रबन्धप्रवृत्तेः। इति एवं प्रभोऽभिनन्दन स्वामिन् लोकहितं लोकेभ्यो हितमुपकारकं यतो यस्मात्कारणात् त्वदीयं मतं ततः कारणाद्भवानेव गतिः शरणं सतां विवेकिनां मुक्त्य-

---

[1] बन्धे ख०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्थिनां मतः सद्भिरभिप्रेत इत्यर्थः 'मतिबुद्धिपूजार्थाच्च' इति संप्रतिक्तः तद्योगे सतामित्यत्र भवतीत्यनेन कर्तृतां कर्तरिक्तः ॥ ५ ॥

विषयासक्ति रूप अनुबन्ध में और भी दोष दिखलाते हुए कहते हैं---

अन्वयार्थ—(सः अनुबन्धः) वह आसक्तता (च) और आसक्तता से उत्पन्न होने वाली (तृषोऽभिवृद्धिः) उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि-दोनों ही (अस्य जनस्य) इस विषयातिसक्त मनुष्य के लिये (तापकृत्) संताप उत्पन्न करने वाली है (सुखतः) प्राप्त हुए अल्पमात्र विषय सुख से (न च स्थितिः) जीव की सुख से स्थिति नहीं होती अर्थात् अल्प सुख से जीव संतुष्ट नहीं होता (इति) इस तरह (प्रभो !) हे स्वामिन् (यतः) चूंकि (मतं) आपका मत (लोकहितं) लोक कल्याणकारी है (ततः) इसलिये (भवानेव) आप ही (सतां) विवेक शाली सत्पुरुषों के (गतिः) शरण (मतः) माने गये हैं ।

भावार्थ—पहले जिस विषयासक्ति का वर्णन किया जा चुका है वह इस विषयलम्पट मनुष्य के लिये संताप उत्पन्न करने वाली है और विषयासक्ति से न केवल संताप उत्पन्न होता है किन्तु आगे आगे तृष्णा की और भी वृद्धि होती जाती है । विषयलम्पट मनुष्य को जो थोड़ा सुख प्राप्त होता है उससे इसकी स्थिति नहीं होती अर्थात् उससे संतुष्ट होकर नहीं बैठता । हे भगवन् ! आपका मत लोक-हितकारी है क्योंकि आपके मत में यह उद्घोषित किया गया है कि विषयासक्ति से आजतक कोई सुखी नहीं हुआ है यदि हुआ है तो विषयेच्छाओं की निवृत्ति से ही सुखी हुआ है इसलिये सुख के अभिलाषी मनुष्य विषयासक्ति को छोड़कर विषयेच्छाओं की निवृत्ति करो । ऐसा उपदेश देने से आप ही सत्पुरुषों के लिये शरण हैं उनके परमार्थ रक्षक हैं ।

इति अभिनन्दन जिन स्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री सुमति जिनस्तवनम्

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारक तत्वसिद्धिः ॥१॥

अन्वर्थसंज्ञ इत्यादि—उपजातिच्छन्दः । अन्वर्था अनुमतार्था संज्ञा नाम यस्यासावन्वर्थसंज्ञा यथार्थनामेत्यर्थः । कासौ संज्ञा अन्वर्था तस्येत्याह—सुमतिरिति—शोभना मतिर्यस्यासौ सुमतिः, कथंभूतः ? मुनिः प्रत्यक्षवेदी, कथं शोभना मतिरस्य सिद्धा यतोऽन्वर्थसंज्ञस्त्वं स्यादित्याह—स्वयमित्यादि—स्वयमात्मना मतमङ्गीकृतं तत्वं येन कारणेन सुयुक्तिनीतं शोभना युक्ति रुपपत्तिः सुयुक्तिस्तया नीतं प्रणीतं तस्यां वा नीतं प्रापितं अनेक धर्मात्मकं जीवादितत्वं विवक्षिताविवक्षित धर्मगुणप्रधानभावेन प्रतिपादितं प्रमाणगोचर चारितया वा व्यवस्थापित मित्यर्थः । न केवलयेतस्मात्कारणात्त्वं सुमतिः किन्त्वेतस्मादपीत्याह—यतश्च—यस्माच्च कारणात् शेषेषु मतेषु त्वन्मतादन्येषु मतेषु नास्ति न विद्यते, कासावित्याह—सर्वेत्यादि—क्रियाश्च कारकाणि च क्रियाकारकाणि सर्वाणि च तानि क्रिया कारकाणि च तेषां तत्वं स्वरूपं तस्य सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । नहि क्षणिकैकान्ते उत्पत्तिर्घटते कारणत्वेनाभिमतक्षणस्य क्षणिकत्वेन सर्वथा नष्टत्वात्, कार्यत्वेनाभिमतक्षणस्य च सर्वथालब्धात्मलाभतयासत्वात् । नचासत्खरविषाणतुल्यं कस्यचित्कारणं कार्यं वा युक्तमति प्रसङ्गात् । नापि नित्यैकान्ते सा घटते सर्वथा अविकारिणः खपुष्पवत् कार्यकारणभावा भावात् उत्पत्त्यनुपपत्तेः । अतएव ज्ञप्तिरपि क्षणिकाद्येकान्ते दुर्घटा, उत्पन्ने हि प्रमाणं ज्ञापकं भवति न च तदेकान्ते उत्पत्तिः संभवती त्युक्तम् ॥१॥

भगवान् 'सुमति' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आप (मुनिः) प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं तथा (सुमतिः अन्वर्थ संज्ञः) सुमति इस सार्थक संज्ञा से युक्त हैं—उत्तम बुद्धि से सहित होने के कारण आपका 'सुमति' नाम सार्थक है (येन) क्योंकि आपने (सुयुक्तिनीतं) उत्तम युक्तियों से युक्त (तत्वं) तत्व (स्वयं मतं) स्वयं स्वीकृत किया है (च) और (शेषेषु मतेषु) आपके मत से शेष अन्य मतों में (सर्व क्रिया कारक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्व सिद्धिः) सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता कर्म करण आदि कारणों की तत्वसिद्धि (नास्ति) न है।

भावार्थ—'सुष्ठु शोभना वा मतिर्यस्य स सुमतिः' जिसकी बुद्धि अच्छी हो वह सुमति है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार हे भगवन् ! आपका यह 'सुमति' नाम सार्थक है। सार्थक नाम से युक्त होने के साथ २ आप मुनि भी हैं प्रत्यक्ष ज्ञानी भी हैं। आपका नाम सार्थक होने का कारण यह है कि आपने स्वयं ही बिना किसी की प्रेरणा के उस मत–धर्म को अङ्गीकृत किया है जो उत्तम युक्तियों से सहित है तथा आपके मत के सिवाय अन्य मतों में क्रिया कारक भाव की सिद्धि बिलकुल ही नहीं होती। क्योंकि सर्वथा क्षणिक वादी बौद्धों के मत में पदार्थ की न उत्पत्ति बनती है और न ज्ञप्ति ही। उसका कारण है कि जिस क्षण को कारण रूप से स्वीकृत किया जायगा वह सर्वथा नष्ट हो जाने से असत् रूप हो जावेगा और असत् से सत् की उत्पत्ति सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार नित्यैकान्त पक्ष में भी क्रिया कारक भाव की सिद्धि नहीं होती क्योंकि सर्वथा अविकारी पदार्थों से कार्य की उत्पत्ति गगन कुसुम के समान है॥१॥

तदेव स्वयमङ्गीकृततत्वस्य सुयुक्तिनीतत्वं प्रदर्शयन्नाह—

अनेकमेकं च तदेव तत्वं भेदान्वय ज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥

अनेकमित्यादि—तदेव जीवादिलक्षणं तत्वं अनेक मनेक स्वभावं सुखदुःखादि बालकुमारादिपर्यायापेक्षया, तदेव चैकं सकल पर्यायान्वयार्थैक द्रव्यापेक्षया, कथंभूतं सत्तदनेकमेकं च स्यादित्याह—भेदान्वयज्ञानं भेदान्वययोर्ज्ञानं ग्राहकं प्रमाणं यत्र जीवादितत्वे हि सुखादिभेदप्रतीतिर्भेदज्ञानं सुखादौ बालकुमारा दौ च स एवाह मित्यात्म द्रव्यस्याभेदप्रतीति रभेद ज्ञानं। ननु पर्यायमात्रमेव वास्तवं तत्वं न द्रव्यं तस्यानाद्यविद्या कल्पितत्वादतो भेदज्ञानमेव सत्यमिति सौगताः। जीवादिद्रव्यमेव वास्तवं न सुखादिपर्यायास्तेषा मौपाधिकत्वादिति सांख्याः। अत्राह--इदं हि सत्यमिति, इदं भेदान्वयग्राहिज्ञानं हि स्फुटं सत्यं सकलप्रमाण वाधक वैधुर्यात्, क्षणिकचित्तादिक्षणेष्वेकत्वमेक सन्तति पतितत्वेनारोपितमिति बौद्धाः। जीवादि द्रव्येष्वनेकत्व मुपचारात्ततोऽत्यन्तभिन्नैरनेक सुखादिपर्यायैः संबन्धेन तत्रानेकत्व व्यवहारादिति नैयायिकादयः। अत्राह--मृषोपचार इत्यादि--मृषा असत्यः क ? उपचारो भेदान्वयज्ञानादस्खलद्रूपात्तत्र भेदाभेदयोः वास्तवयोः प्रसिद्धेः। तदन्यतरापह्नवे दूषणमाहअन्यतरेत्यादि अन्यतरस्यैकत्वस्यानेकत्वस्य वा लोपेऽभावे तच्छेषलोपोऽपि तस्माल्लुप्ताच्छेषस्यान्यस्यापि लोपः स्यात् द्रव्यपर्याययोरन्योन्याविनाभावित्वात्। ततोऽनुपाख्यं तत् स्यात् उपाख्या एकत्वानेकत्वादिस्वभावः, सा न विद्यते यस्य तदनुपाख्यं निःस्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावमिति यावत् । तथाचावाच्यं तत् स्यात् स्वभावाभावे केनचिद्रूपेण तस्य वक्तु मशक्यत्वात् ॥ २ ॥

आगे तत्व की सुयुक्तियुक्तता दिखलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तदेव तत्वं) वही सुयुक्तिनीत तत्व अनेकं च एकं) अनेक तथा एक रूप है। (हि) निश्चय से (इदं भेदान्वयज्ञानं) अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाला यह अन्वयज्ञान (सत्यम्) यथार्थ है। इनमें से किसी एक को (उपचारः) उपचार रूप कल्पित मानना (मृषा) मिथ्या है क्योंकि (अन्यतरस्य) दो में से किसी एक का (लोपे) लोप-अभाव होने पर (तच्छेषलोपोऽपि) उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और (ततः) दोनों का अभाव हो जाने से तत्व (अनुपाख्यम्) निःस्वभाव होने से अवाच्य हो जाता है।

भावार्थ—जीवादि तत्व सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है। तत्व के इन दोनों अंशों को ग्रहण करने के लिये जैनागम में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस तरह दो नय स्वीकृत किये गये हैं। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा जीव तत्व का आभ्यन्तर रूप सुख दुःख आदि के भेद से अनेक रूप है और बाह्य रूप बाल कुमार तरुण तथा वृद्ध आदि के भेद से अनेक रूप है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सुख दुःख आदि आभ्यन्तर तथा बाल कुमार आदि बाह्य रूपों में 'यह वही है' इस तरह एकत्व की प्रतीति होने से तत्व एक रूप है। तत्व की यह द्विविधता सत्य है इसलिये उसे ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सत्य है। यद्यपि बौद्धों का कहना है कि पर्याय मात्र ही वास्तविक तत्व है, द्रव्य वास्तविक तत्व नहीं है क्योंकि वह अनादि अविद्या से कल्पित है और सांख्यों का कहना है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक है सुखादि पर्याय वास्तविक नहीं हैं क्योंकि वे उपाधिजन्य हैं। बौद्ध द्रव्य को उपचार-कल्पित मानते हैं और सांख्य पर्याय को उपचार मानते हैं परन्तु जैन, द्रव्य और पर्याय दोनों अंशों को वास्तविक मानते हैं इनमें से किसी को उपचार मान कर उसका सर्वथा अभाव जैन दर्शन में स्वीकृत नहीं किया गया है। क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों ही एक दूसरे से अविनाभूत हैं इनमें से एक का अभाव मानने पर दूसरे का अभाव स्वतः हो जाता है और जब दोनों का अभाव हो जाता है तब तत्व में रह ही क्या जाता है ? वह अवाच्य या अभाव रूप हो जाता है। इस प्रकार हे सुमति जिनेन्द्र ! सुयुक्तियों से युक्त तत्व का निरूपण आपने ही किया है॥ २ ॥

एवं द्रव्यपर्यायात्मकत्वं जीवादितत्वस्य प्रदर्श्येदानीं भावाभावात्मकत्वं प्रदर्शयितुमाह—

सतः कथंचित्तदसत्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभाव च्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ ३ ॥

सतः कथञ्चिदित्यादि—ततो विद्यमानस्यात्मादितत्वस्य स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्त्व-शक्तिः कथंचित् पररूपादिचतुष्टय प्रकारेण तस्यासत्त्वशक्तिस्तथा प्रतीतेः। अत्र निदर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माह—खे नास्तीत्यादि—खे आकाशे नास्ति पुष्पं तरुषु पुनः प्रसिद्धं प्रकर्षेण वादि प्रतिवादिनोरविप्रति पत्त्या सिद्धं प्रमाण विषयतां गतं । यदि हि सत्त्वमेव वस्तुनः स्वरूपं स्यात्तदा स्वरूपादिनेव पररूपादिनापि तस्य सत्वं स्यात्तथा च तद्वत् खेऽपि पुष्पस्य सत्वं स्यात्, नचैतद्युक्तं प्रतीति विरोधादतः सत्त्वाद्वैतवादिनो मतमयुक्तमेब यदि पुनरसत्त्वमेव वस्तुनः स्वरूप मिष्यते तदा पररूपादिचतुष्टयेनेव स्वरूपादिचतुष्टयेनापि असत्त्वं स्यात्तथा च खे इव तरुष्वपि पुष्पस्या सत्त्वं स्यात्, नचैवमस्ति प्रतीति विरोधादतः शून्यतैकान्तमतमप्यनुपपन्नम् । एतदेवाह—सर्वेत्यादि—सर्वे च ते स्वभावाश्च अस्तित्व नास्तित्वादिसकल रूपाणि तेभ्यश्च्युत मपगतं तानि वा च्युतानि यस्मात्तदेवं विधमसत्त्वाद्वैतरूपं सकलशून्यता लक्षणं वा तत्वं अप्रमाणं, न विद्यते व्यवस्थापकं प्रमाणमस्य । कुतस्ऽस्य व्यवस्थापकं तन्नास्तीति चेत् ? अत्राह—स्ववागित्यादि । तव दृष्टिः सर्वं जीवादितत्व मनेकान्तात्मकमिति मतं ततोऽन्यत् सत्ताद्वैतलक्षणं शून्यतैकान्तस्वभावं वा तत्वं तदप्रमाणमभ्युपगच्छतां तद्वादिनां स्ववाचाविरुद्धं स्यात् माता मे वन्ध्येत्यादिवत् । यदि हि अद्वैतं कथं प्रमाणं द्वैतप्रसङ्गात् । यदि च शून्यतेकान्तः कथं प्रमाणं तत्सद्भावतस्तदैकान्त विरोधानुपङ्गात् ।

इस प्रकार जीवादि पदार्थों की द्रव्य और पर्याय रूपता दिखलाकर अब भावाभावात्मकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सतः) स्वद्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा सद्‌रूप जीवादि पदार्थ के (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा—पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा (असत्त्वशक्तिः) असद् रूपता है जैसे कि (पुष्पं) फूल (तरुषु) वृक्षों पर (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है और (खे) आकाश में (नास्ति) नहीं है । यदि तत्व को (सर्वस्वभाव च्युतं) सत्व और ससत्व—दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह (अप्रमाणं) प्रमाण रहित हो जावेगा । हे भगवन् ! (तव दृष्टितः अन्यत्) तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन (स्ववाग्विरुद्धं) स्ववाणी से विरुद्ध हैं । अर्थात् स्ववचनबाधित हैं ।

भावार्थ—पदार्थ में सत् असत्, एक अनेक, भेद अभेद आदि अनेक विरोधी धर्म अपना अपना अस्तित्व रखते हैं । उनमें यहां मात्र सत् धर्म की द्विविधरुपता का वर्णन किया गया है । संसार का प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा सत्ता रूप है—विद्यमान है और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है—अविद्यमान है । यहां दृष्टान्त है कि जिस प्रकार फूल का अस्तित्व वृक्ष पर है अर्थात् वृक्षाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्तिरूप है परन्तु आकाश में फूल नहीं है अर्थात् आकाशाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्ति रूप नहीं है । इस तरह पदार्थ में परस्पर विरोधी सदसद्भाव—सद्—असद् रूपता स्वभाव से ही विद्यमान है परन्तु एक सत्ता ही के अद्वैत को स्वीकृत करने वाले लोग असत्व के पक्ष का निषेध करते हैं और असत्व के अद्वैत को स्वीकृत करने वाले लोग सत्व के पक्ष का निषेध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका ऐसा मानना अप्रमाण है क्योंकि जब दोनों धर्म कथंचित्–विवक्षा-भेद से परस्पर अविनाभूत है तब एक का अभाव मानने पर दूसरे का अभाव स्वयं हो जायगा और इस स्थिति में प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का अपलाप करना 'मेरी माता बन्ध्या है' इस वाक्य के समान स्व-वचन बाधित होने से अप्रमाण—प्रमाण रहित माना जायगा ॥ ३ ॥

एवं युगपज्जीवादितत्वस्य सदसद्रूपतां प्रतिपाद्य विपक्षे दूषणपुरःसरतया क्रमेणापि तस्य तां प्ररुपयन्नाह––

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारक मत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥

न सर्वथेत्यादि—यौगसांख्यमीमांसकैर्यदि सर्वथा–द्रव्यप्रकारेणापि पर्यायप्रकारेणापि नित्यं तत्वं परिकल्प्यते तदा तत्तथाविधं न तावदुदेति उत्पद्यते उत्तराकार स्वीकारं करोति न तथा अपैति पूर्वाकार परित्यागं करोति। पूर्वाकार परित्यागोत्तराकार स्वीकारयोः सर्वथा नित्ये विरोधात्। किञ्च क्रियाकारक सद्भावे सिद्धे उदयो व्ययो वा चिन्त्यते न च सर्वथा नित्ये वस्तुनि तत्सद्भावः संभवतीत्याह—न च नैव अत्र सर्वथा नित्ये वस्तुनि क्रिया, स्थानगमनादिलक्षणा कारकं च तस्या निर्वर्तकं तद्युक्तमुपपन्नं सर्वथैकरूपे हि वस्तुनि यदा गमनं तदा तदेव सदा स्यान्न स्थानम्, यदि स्थानं तदा तदेव स्यान्न गमनं। तथा गमनादिक्रियाया यदि तत्कारकं तदा सर्वदा तस्य कारकत्व प्रसङ्गात् न कदाचिदकारकत्वं स्यात् यतस्तत्क्रियोपरमः स्यात्। अथ कदाचित्तस्यास्तदकारकं तदा सर्वदा तदकारकत्वानुषङ्गात् न स्वप्नेऽपि तत्र तत्क्रियोपलम्भः स्यात्। ननु सर्वथानित्ये वस्तुन्युक्तप्रकारेणोदयव्ययासंभवेऽपि न कथंचिन्नित्यानित्यात्मके भवन्मते तत्संभवो युक्तः सर्वथाक्षणिक एव तत्संभवादित्यत्राह—नैवासत इत्यादि—सर्वथेत्येतदत्राप्यभिसंबध्यते। सर्वथा पर्यायप्रकारेणेव द्रव्य प्रकारेणाप्यसतो गगनेन्दीवरवन्नैव जन्म युक्तं सतश्च विद्यमानस्य घटादेः सर्वथा नाशो न युक्तः। ननु विद्यमानस्यापि प्रदीपादेः सर्वथा विनाशप्रतीतेः सतो न नाश इत्येतदयुक्तमित्यत्राह–दीप इत्यादि दीपः प्रदीपः तमःपुद्गलभावतोऽस्ति, पुद्गलो रूपि द्रव्यं, तमोरूपः पुद्गल स्तमःपुद्गलस्तस्य, भावस्तमःपुद्गलभावस्तेन तमःपुद्गलभावतोऽस्ति तमःपुद्गलरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार जीवाजीवादितत्वों की युगपद् सद्सद्रूपता दिखलाकर अब प्रतिवादि मत में दूषण देते हुए क्रम से सद्सद्रूपता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वथा नित्यं) सब प्रकार से नित्य वस्तु (न उदेति न अपैति) न उत्प होती है, न नष्ट ही होती है (च न) और न (अत्र) इस मान्यता में (क्रिया कारकं युक्तम्) क्रि कारक भाव ही संगत होता है। क्योंकि (असतः) असत्—अविद्यमान पदार्थ का (नैव जन्म) ज नहीं होता और (सतो न नाशः) सत्—विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता। यदि कहा जा कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है यहां तो सत् का नाश मानना पडेगा तो उसका उत्तर यह है कि (दीपः) दीपक तमःपुद्गल भावतः अस्ति , अन्धकार रूप पुद्ग द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है।

भावार्थ—संसार के प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय रुप हैं। द्रव्य अपेक्षा से पदार्थ नित्य और पर्याय अपेक्षा से अनित्य हैं। इस तरह अनेकान्त शैली से पदार्थों के नित्यानित्यात्मक होने प भी योग सांख्य और मीमांसक पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं और बौद्ध सर्वथा अनित्य। इस श्लो में आचार्य महाराज ने सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनों एकान्त मान्यताओं का निराकर किया है। वे कहते हैं कि यदि पदार्थ सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश नहीं वन सकेगा। जीव द्रव्य में मनुष्य पर्याय के नष्ट होने पर ही दे पर्याय की उत्पत्ति होती है और पुद्गल द्रव्य में घट पर्याय के नष्ट होने पर ही कपाल पर्याय की उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार के उत्पाद और व्यय को प्रत्यक्ष देखते हैं अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। नवीन आकार का उत्पन्न होना उत्पाद है और पूर्व आकार का विनाश होना व्यय है ये दोनों प्रकार के परिणमन सर्वथा नित्य पदार्थ में संभव नहीं हैं। इसके सिवाय सर्वथा नित्यप की मान्यता में क्रियाकारकभाव भी नहीं बनता है। ठहरना तथा गमन करना आदि क्रिया कहला है और इन क्रियाओं का जो निर्वर्तक रचयिता है वह कारक कहलाता है। वस्तु को सर्वथा एक मानने पर यदि उसमें गमन रूप क्रिया हो रही है तो गमन ही होता रहेगा और ठहरना रूप क्रिया रही है तो ठहरना ही होता रहेगा विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकता क्योंकि विरुद्ध परिणमन मानने प सर्वथा एकरूपता नित्यपना का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। इसी तरह सर्वथा अनित्य पक्ष का निरा करण करते हुए कहते हैं कि पदार्थ को सर्वथा—पर्याय की तरह द्रव्य रुप से भी अनित्य स्वीकृत कर पर पदार्थ का निरन्वय नाश स्वीकृत करना पडेगा और उस स्थिति में अविद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति और विद्यमान पदार्थ का नाश मानना पडेगा परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि जो पदार्थ ही नहीं उसका जन्म नहीं हो सकता और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि जलते हुए दीपक को बुझा देने पर क्या शेष बचता है ? यहां तो सत् का नाश ही अनुभ में आता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहां भी दीपक का सर्वथा नाश नहीं माना जाता दीपक पहले प्रकाश रूप पुद्गल द्रव्य था अब बुझ जाने पर वही दीपक अन्धकार रूप पुद्गल द्रव्य के में शेष रहता है सर्वथा नाश कहां हुआ ? इस तरह कथंचित् नित्यानित्यत्व की मान्यता ही युक्ति संगत हैं।। ४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं नित्यानित्यात्मत्वं जीवादेः प्ररुपयन्नाह—

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥ ५ ॥

विधिरित्यादि—विधीयत इति विधि रस्तित्वं नित्यत्वमित्यर्थः, निषिध्यत इति निषेधो नास्तित्व मनित्यत्व मिति यावत्, तौ च द्वौ जीवादिवस्तुनि कथंचित् द्रव्यपर्यायरूपता१ प्रकारेणेष्टौ सुमतिस्वामिनो मतौ द्रव्यरूपतया हि तत्र विधिरिष्टः पर्याय रूपतया तु निषेध इति, अनयोर्मध्ये कस्य प्रधानता कस्य चाप्रधानतेत्यत्राह—विवक्षयेत्यादि-वक्तुमिच्छा विवक्षा तया मुख्यगुणव्यवस्था, मुख्यं प्रधानं गुणोऽप्रधानं तयोर्व्यवस्था स्थितिः। यस्य हि प्रति पत्तुर्द्रव्ये विवक्षा प्रवृत्ता तस्य विधिर्मुख्यो, निषेधो गौणो, यस्य तु पर्याये सा प्रवृत्ता तस्य निषेधो मुख्यो, विधिर्गौणः, इत्येवं इयं प्राक्प्रदर्शितप्रकारा प्रणीतिः तत्त्व-स्वरूपप्रतिपादनं सुमतेस्तव भगवतस्तां त्वत्प्रणीतिं तद्द्वारेण भवन्तं वा स्तुवतो नमस्कुर्वतो वा मे मतेः प्रवेकः प्रविष्टता२ प्रकर्षता इत्यर्थः अस्तु भवतु, नाथ सुमतिस्वामिन् ॥ ५ ॥

अब जीवादि तत्वों में नित्यानित्यात्मकपने का निरूपण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विधिः) अस्तित्व (च) और (निषेधः) नास्तित्व दोनों ही (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (इष्टौ) इष्ट हैं। (विवक्षया) वक्ता की इच्छा से उनमें (मुख्य गुण व्यवस्था) मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। (इति) इस तरह (इयं) यह (प्रणीतिः) तत्व निरूपण की पद्धति (सुमतेः तव) आप सुमति नाथ स्वामी की है। (नाथ) हे स्वामिन्! ('त्वां' स्तुवतः 'मे') आपकी स्तुति करते हुए मुझे (मति प्रवेकः) मति का उत्कर्ष प्राप्त होवे।

भावार्थ—नित्य अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद आदि परस्पर विरोधी दो धर्मों में प्रथम पक्ष विधि पक्ष कहलाता है और दूसरा पक्ष उससे विरुद्ध होने के कारण निषेध पक्ष कहलाता है। यहां पूर्व श्लोक में नित्य और अनित्य का प्रसङ्ग उठाया गया था इसलिये विधि से नित्य पक्ष और निषेध से अनित्य पक्ष लिया गया है। पदार्थ किसी विवक्षा से नित्य है और किसी विवक्षा से अनित्य है। वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं उसी विवक्षा के अनुसार नित्य और अनित्य पक्ष में मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। वक्ता जिस समय द्रव्य का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है उस समय नित्य पक्ष मुख्य होता है और अनित्य पक्ष गौण होता है तथा जिस समय पर्याय का निरूपण करने

१ रूपतया ख० । २ विशिष्टता प्रकर्ष ख०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में प्रवृत्त होता है उस समय अनित्य पक्ष मुख्य होता है और द्रव्य पक्ष गौण होता है। वक्ता की इच्छा नय भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। नय पदार्थ श्रुतज्ञान के भेद हैं पदार्थ श्रुत ज्ञान प्रयोजन पर का अज्ञान दूर करना है। वक्ता के सामने जैसा श्रोता होता है उसके अनुसार वह पदा का निरूपण करता है परन्तु दोनों प्रकार के निरूपण के समय उसकी दृष्टि दूसरे पक्ष पर भी स्थि रहती है। सुमति नाथ भगवान् चूंकि सुष्ठु मतिर्यस्यासो सुमतिः) उत्तम मति से युक्त हैं अ उनकी तत्त्व के निरूपण की पद्धति सर्वोत्कृष्ट थी। हे भगवन्! आपको स्तुति के फलस्वरूप मुझे ऐसी ही श्रेष्ठमति प्राप्त हो ऐसी कामना आचार्य महाराज ने प्रकट की है ॥ ५ ॥

इति सुमतिजिनस्तवनम्

श्रीपद्मप्रभजिनस्तवनम्

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गित चारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ।

पद्मप्रभ इत्यादि---उपजातिच्छन्दः। पद्मप्रभः पद्मस्य प्रभेव प्रभा वर्णो यस्यासौ प प्रभः षष्ठतीर्थंकरस्य संज्ञेयं कथंभूतोऽसौ ? पद्मपलाशलेश्यः पद्मस्य पलाशं पत्रं तद्वल्लेश् यस्य स शुक्ललेश्य इत्यर्थः। पुनरपि कथंभूतः ? पद्मालयालिङ्गित चारुमूर्तिः पद्ममाल आवासस्थानं यस्याः सा पद्मालया लक्ष्मीस्तया आलिङ्गिता क्रोडीकृता चार्वी मूर्तिरात्म स्वरूपलक्षणा शरीरस्वरूपलक्षणा च यस्य सः। अनन्तज्ञानादिलक्षणया हि लक्ष्म आत्मस्वरूपलक्षणा चार्वी निर्मला मूर्तिरालिङ्गिता, निःस्वेदत्वादिलक्षणया तु शरीरस्वरू लक्षणा चार्वी सकललक्षणोपेता मूर्तिरालिङ्गिता। स किमित्याह--बभौ भासितवान् भवा पद्मप्रभः, केषां सम्बन्धित्वेन भव्यपयोरुहाणां भव्या एव पयोरुहाणि कमलानि तेषां केषामिव क इत्याह--पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः पद्मानामाकराः खण्डानि तेषां यथा प बन्धुरादित्यो विकासं कुर्वन् शोभितवान् तथा भगवानपि भव्यपयोरुहाणां हितोपदेशे विकासं कुर्वन्निति ॥१॥

भगवान् के पद्मप्रभ इस नाम की सार्थकता दिखलाते हैं--

अन्वयार्थ--(पद्मपलाशलेश्यः) जिनके शरीर का वर्ण कमल पत्र के समान लाल रङ्ग था तथा (पद्मालया लिङ्गित चारुमूर्तिः) जिनकी आत्मस्वरूप निर्मलमूर्ति अनन्तज्ञानादिरूप अन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मी से एवं जिनकी समस्त उत्तम लक्षणों से सहित शरीर रूप मूर्ति निःस्वेदत्व आदि–पसीना के अभाव आदि रूप बाह्य लक्ष्मी से आलिङ्गित थी ऐसे (पद्मप्रभः) पद्मप्रभ जिनेन्द्र थे । हे जिनेन्द्र ! (भवान्) आप (भव्यपयोरुहाणां) भव्य जीव रूप कमलों के हितोपदेश रूप विकास के लिये उस तरह (बभौ) सुशोभित हुए थे जिस तरह कि (पद्माकराणामिव पद्म बन्धुः) कमल समूह के विकास के लिये सूर्य सुशोभित होता है ।।

भावार्थ—भगवान् पद्मप्रभ के शरीर का वर्ण कमल दल के समान लाल रङ्ग का था इसलिये उनका 'पद्मप्रभ' यह नाम सार्थक था । उनकी मूर्ति लक्ष्मी से आलिङ्गित थी मूर्ति से आत्मस्वरूप तथा शरीर की मुद्रा दोनों ही विवक्षित हैं इसी प्रकार लक्ष्मी से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की लक्ष्मियां विवक्षित हैं । अन्तरङ्ग लक्ष्मी अनन्तज्ञानादि रूप है और निःस्वेदत्व आदि बाह्य लक्ष्मी है । चारु का अर्थ सुन्दर होता है परन्तु आत्म स्वरूप मूर्ति के पक्ष में चारु का अर्थ निर्मल–रागादि विकारों से रहित लिया जाता है और शरीर की मुद्रा के पक्ष में सामुद्रिक शास्त्र में प्रदर्शित अनेक शुभलक्षणों से सहित लिया जाता है । जिस प्रकार कमलवन को विकसित करता हुआ सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार हितोपदेश द्वारा भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करते हुए–आनन्दविभोर करते हुए पद्मप्रभ जिनेन्द्र सुशोभित हो रहे थे ।। १ ।।

कथमसौ हितोपदेशः प्रमाणं यथावत्पदार्थपरिज्ञानासंभवाद्वाग्व्यापारासंभवाच्चेत्याशङ्क्याह––

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ।।२।।

बभारेत्यादि––यतो भगवान् धृतवान् पद्मां चानन्तज्ञानादिलक्ष्मीं न केवलं तां च सरस्वतीं च विशिष्टां वाणीं अतः कथं तदीयोपदेशस्याप्रामाण्यं ? कदा तां बभारेत्याह–पुरस्तादित्यादि–पुरस्तात् तत्पूर्वं, कस्याः ? प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः मुक्ति लक्षणीकृत्य प्रतिमुक्ति, या लक्ष्मीस्तस्याः पूर्वं अर्हदवस्थायां बभार न सिद्धावस्थायामित्यर्थः । ननु पद्मां सरस्वतीं च बभारेत्ययुक्तमुक्तं वेदनीयसद्भावतो बुभुक्षादेरपि तेन धृतत्वादित्यत्राह–सरस्वतीमेवेति–एवकारेण बुभुक्षादेर्निरासः । पद्मायाः कुतो न निषेध इति चेदुक्तत्वात् । उक्तस्य हि एवकारेण न निषेधो यथा 'द्वौ पुत्रौ जनया मास वरं नारायण मेव चेति' किं विशिष्टां तां समग्रशोभां समग्रा परिपूर्णा शोभा यथावन्निखिलार्थ प्रतिपादनलक्षणा विभूतिः समवसरणादिविभूतिर्वा यस्याः । यदि प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्पद्मां सरस्वतीं च बभार तदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विमुक्तः सन्नसौ कां बभारेत्याह–सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः इति सर्वज्ञलक्ष्मीं अनन्त ज्ञानादि विभूतिं ज्वलितां निर्मलां बभारेति सम्बन्धः । विशेषेण मुक्तः सकलकर्मरहितः सन्। सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितामिति च क्वचित् पाठः तत्र सर्वज्ञलक्ष्म्या ज्वलिता उज्ज्वला दीप्ता ज्ञानवत्सर्वत्राप्रतिहतेत्यर्थः । तथाभूतां सरस्वतीं बभार विमुक्तः सकलसङ्गविवर्जितः परम यतिरित्यर्थः ॥ २ ॥

आगे भगवान् के हितोपदेश की प्रामाणिकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे पद्मप्रभजिनेन्द्र ! (भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्) मोक्ष रूप लक्ष्मी के पूर्व अर्थात् अरहन्त अवस्था में पद्माम्) अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी (च) और (सरस्वतीं) दिव्यवाणी–दिव्यध्वनि को (बभार) धारण किया था अथवा (समग्रशोभां) समस्त पदार्थों के प्रति पादन रूप विभूति और समवसरणादि रूप समस्त शोभा से युक्त (सरस्वतीमेव) दिव्यवाणी को ही धारण किया था पीछे (विमुक्तः सन्) समस्त कर्ममल से रहित होकर (ज्वलितां) देदीप्यमान–सदा उपयोग रूप (सर्वज्ञलक्ष्मीं) सर्वज्ञता रूप लक्ष्मी को धारण किया था ।

भावार्थ—प्रारम्भ में शङ्का उठाई गई थी कि भगवान् का हितोपदेश प्रामाणिक कैसे हो सकता है क्योंकि उन्हें पदार्थों का यथार्थज्ञान संभव नहीं है साथ ही वचनसम्बन्धी व्यापार का भी अभाव है । इस शङ्का का उत्तर देते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि पद्मप्रभजिनेन्द्र अरहन्त अवस्था में अनन्तज्ञानादि रूप लक्ष्मी और सरस्वती–दिव्यध्वनिरूपी वाणी को धारण करते हैं इसलिये यथार्थ ज्ञान और वचन सम्बन्धी व्यापार के सद्भाव में उनका हितोपदेश प्रामाणिक ही है अप्रामाणिक नहीं। यहां किसी ने फिर शङ्का उठाई कि असद्वेद्य के उदय से भगवान् क्षुधा आदि की वेदना को भी तो धारण करते हैं मात्र ज्ञानादिलक्ष्मी और दिव्यध्वनि रूप सरस्वती को धारण करने की बात क्यों की जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि मोहोदय का अभाव होनेसे भगवान् अरहन्त अवस्था में सरस्वती को ही धारण करते हैं क्षुधा आदि की वेदना को नहीं । यहां एव शब्द से क्षुधा आदि की वेदना का अभाव समझना चाहिये अनन्तज्ञानादि रूप लक्ष्मी का नहीं क्योंकि एवकार के द्वारा प्रतिपादित का निराकरण नहीं होता है । जैसे कि प्रसिद्ध है–'उसने दो पुत्र उत्पन्न किये नर और नारायण' 'नारायणमेवच' इस एवकार से नर का निषेध नहीं होता । अरहन्त अवस्था के बाद जब भगवान् विमुक्त हो चुकते हैं अर्थात् समस्त कर्ममल से छूट जाते हैं तब वे देदीप्यमान–सदा प्रकाशमान रहने वाली सर्वज्ञलक्ष्मी को ही धारण करते हैं दिव्यध्वनि रूप सरस्वती को नहीं क्योंकि दिव्यध्वनि का सद्भाव सशरीर अवस्था में ही संभव है अशरीर अवस्था में नहीं । यहां संस्कृत टीकाकार ने 'सर्वज्ञलक्ष्मी ज्वलितां विमुक्तः, इस पाठान्तर को कल्पना कर 'सर्वज्ञलक्ष्म्या ज्वलिता ताम्' इस प्रकार तृतीया समास के द्वारा 'सर्वज्ञ लक्ष्मीज्वलितां' पद को सरस्वती का विशेषण भी निरूपित किया है तथा 'विमुक्तः' शब्द का अर्थ मुक्त न कर समस्त परिग्रह से विमुक्त यतिपति अर्थात् अरहन्त किया है। इस श्लोक का एक अर्थ यह भी होता है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे भगवन् ! (भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्या: पुरस्तात्) अरहन्त अवस्था के पूर्व अर्थात् गृहस्थ अवस्था में (पद्मां) अटूट धन सम्पत्ति अथवा अवधि ज्ञान रूपी लक्ष्मी और (सरस्वती) द्वादशाङ्ग वाणी को धारण (बभार) धारण किया था पश्चात् (विमुक्त: सन्) जीवन्मुक्त होनेपर (सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां) सर्वज्ञ लक्ष्मी से देदीप्यमान एवं (समग्रशोभां) सम्पूर्ण शोभा से युक्त–अप्रतिहत (सरस्वतीमेव) दिव्यध्वनि को ही धारण किया था ।। २ ।।

भवदीयदेहदीप्तिप्रतानश्च प्रतिमुक्तिलक्ष्म्या: पुरस्तात् किं कृतवानित्याह—

शरीररश्मिप्रसर: प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणे: स्वसानुम् ।।३।।

शरीररश्मि-इत्यादि—आलिलेप आलिप्तवान्, कोऽसौ ? शरीर रश्मिप्रसर: शरीरस्य रश्मयो दीप्तय: तेषां प्रसरो विस्तार:, किं विशिष्टो ? बालार्करश्मिच्छवि: बाल: प्रत्यग्रोदित: स चासावर्कश्चादित्यस्तस्य रश्मय: किरणा:, छविराकारो बालार्करश्मीनां छविरिव छविर्यस्य स बालार्करश्मिच्छवि: सिन्दूरारुणरश्मिप्रसर इत्यर्थ: । कस्य ? ते तव, कथंभूतस्य ? प्रभोरिन्द्रादिस्वामिन:, कामालिलेप ? नरामराकीर्णसभां नराश्च मनुष्या: अमराश्च देवास्तैराकीर्णा निचिता सा चासौ सभा च परिषत् तां, का इव कमित्याह–प्रभावदित्यादि-प्रभा इव प्रभावत्, प्रभा वा इति च क्वचित्पाठ: तत्र वा शब्द: इवार्थेद्रष्टव्य: कस्य ? शैलस्य पर्वतस्य, कथंभूतस्य ? पद्माभमणे: पद्मरागमणे: सम्बन्धिन:, स्वसानु स्वकटनीं, अयमर्थो यथा पद्माभमणे: शैलस्य प्रभा स्वसानुमालिलेप तथा ते शरीररश्मि प्रसर स्तत्सभामिति ।।३।।

आगे आपके शरीर की कान्ति के विस्तार ने प्रतिमुक्ति लक्ष्मी के पूर्व क्या किया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बालार्करश्मिच्छवि:) प्रात: कालीन सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले (ते: प्रभो) आप स्वामी के (शरीररश्मिप्रसर:) शरीर सम्बन्धी किरणों के समूह ने (नरामराकीर्णसभां) मनुष्य और देवों से व्याप्त समवसरण सभा को (पद्माभमणे: शैलस्य प्रभावत् स्वसानुमिव आलिलेप) उस तरह आलिप्त कर रक्खा था जिस तरह कि पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त कर रखती है ।

भावार्थ—पद्मप्रभ भगवान् के शरीर की प्रभा पद्मरागमणि के समान थी तथा उससे प्रात: काल के समय उदित होते हुए सूर्य की किरणों के समान एक विचित्र प्रकार की आभा निकल कर मनुष्य और देवों से व्याप्त सभा को व्याप्त कर रही थी उससे ऐसा जान पड़ता था जैसे पद्मरागमणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के पर्वत की प्रभा अपनी कटनी–पार्श्वभाग को व्याप्त कर रही हो इस श्लोक में 'प्रभावत्' के स्थान 'प्रभा वा' इस पाठान्तर का संकेत भी संस्कृत टीकाकार ने किया है उस पाठ में वा का इव अर्थ प्रयोग समझना चाहिये क्योंकि 'वा स्या द्विकल्पोपमयो रिवार्थेऽपि समुच्चये' इस कोष के अनुसार का अर्थ विकल्प उपमा इव का अर्थ और समुच्चय होता है ।। ३ ।।

स इत्थंभूतो भगवान् किमेकत्रैव स्थाने उपविश्य स्थितः किं वा विहृतः वा नित्यत्रा

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ।।४।।

नभस्तलमित्यादि––त्वं विजहर्थ विहृतवान्, क्व ? भूमौ भूतले, किमर्थं ? भूत्यै विभू निमित्तं, कासां ? प्रजानाम्, भगवतो हि विहरतः साक्षात्तावत् प्रजानां हेयोपादेयपदा विवेक विभूतिर्भवति परम्परया तु पुण्यावाप्ति प्रभावात् स्वर्गादिविभूतिरपीति । ननु गौर्य दिना प्रेरित ईश्वर इवासौ किं रागाल्लोभादेर्वा भूमौ विजहर्थ इत्यत्राह–पातितमारदर्पं पातितो निपातितो निर्मूलितो मारस्य कामस्य दर्पो येन वीतरागः सन् विजहर्थ इत्यर्थः किं कुर्वन्निव ? पल्लवयन्निवउत्प्रेक्षते पल्लववत् किसलयवत्कुर्वन्निव 'किं तत्करोतीत्या दिनाणौ कृते विन्मतोरुचिति मतो तप' । किम् ? नभस्तलम् आकाशोपरितनभागं, कैः पादाम्बुजैः पादावेवाम्बुजानि सवह.लक्ष्मीनिवासत्वात् । तैः किं विशिष्टैः ? सहरूपत्राम्बुज गर्भचारैः हेम निर्मितानि यानि सहस्रपत्राणि अम्बुजानि कमलानि तेषां गर्भेषु कोशेषु चार प्रवर्तनं येषां ते तैः ।। ४ ।।

आगे इस प्रकार के भगवान् क्या एक ही स्थान पर बैठ कर रह गये अथवा विहार किया यह कहते हैं ।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (पातितमारदर्पः) कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले (त्वम् आपने (सहरूपत्राम्बुजगर्भचारैः) सहस्रदल कमलों के मध्य में चलने वाले अपने (पादाम्बुजैः) चरण कमलों के द्वारा (नभस्तलं) आकाश तल को (पल्लवयन्निव) पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए (भूमौ) पृथिवी पर स्थित (प्रजानां विभूत्यै) प्रजाजनों की विभूति के लिये (विजहर्थ) विहार किया था ।

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्र काम क्रोध आदि समस्त विकारी भावों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकते हैं इसलिये उनका विहार मात्र लोक कल्याण के लिये होता है । जिस प्रकार मेघों का गर्जना बरषना, ठहरना और भ्रमण करना उनकी इच्छा के बिना जनता के भाग्यानुसार स्वतः होता है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् का विहार करना ठहरना तथा उपदेशदेना उनकी इच्छा के बिना भव्य जीवों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के भाग्यानुसार स्वतः होता है। उनका यह विहार मात्र लोक कल्याण के लिये होता है उनके विहार से दुर्भिक्ष आदि दूर होते हैं तथा लोगों के हृदय में सत् असत् का विवेक जागृत होता है। भगवान् का विहार पांच हजार धनुष ऊपर आकाश में होता है तथा देवकृत अतिशय के कारण उनके विहार काल में देवों के द्वारा सात आगे सात पीछे और एक चरणों के नीचे इस प्रकार पन्द्रह २ सहस्रदल कमलों की पन्द्रह पंक्तियों की रचना होती है। उन २२५ कमलों के ऊपर उनका स्पर्श न करते हुए भगवान् का विहार होता है उस समय उन सहस्रदल कमलों तथा भगवान् के रक्तवर्ण पद तलों से ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश तल अनेक पल्लवों–लाल लाल किसलय दलों से ही व्याप्त हो रहा हो। यद्यपि भगवान् का यह विहार आकाश में होता है तथापि उसके प्रभाव से पृथिवी पर स्थित लोगों के वैभव की वृद्धि होती है* ॥ ४ ॥

आत्मन औद्धत्यं परिहरन्नाह—

गुणाम्बुधे र्विप्रु ष मप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ५

गुणाम्बुधेरित्यादि—गुणाम्बुधेः गुणसमुद्रस्य तव पद्मप्रभाख्यतीर्थंकरस्य ऋषेः सकलऋद्धिनिधानस्य विप्रुषमपि गुणलवमपि न केवलं सकलगुणस्वरूपं अजस्रमनवरतं अजस्येति च क्वचित्पाठः, तत्र न जायते नोत्पद्यते संसारसमुद्रे न परिभ्रमतीत्यजस्तस्य आखण्डल इन्द्रोऽचिन्त्यशक्तिरवध्यादिविशिष्ट ज्ञान सम्पन्नोऽपि स्तोतुमलं समर्थो न प्रागेव, मादृक्

*देवयात्रामिमां दिव्यामन्वेत्य परमाद्भुताम् ।
अद्भुतान्यर्थ दृष्ट्यादि सर्वाण्यसुभृतां भुवि ॥ ७५ ॥
आधयो नैव जायन्ते व्याधयो व्यापयन्ति न ।
ईतयश्चाज्ञया भर्तुर्नेति तद्देशमण्डले ॥ ७६ ॥
अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम् ।
मूकाः स्पष्टं प्रभाषन्ते विक्रमन्ते च पङ्गवः ॥ ७७ ॥
नात्युष्णा नातिशीताः स्युरहोरात्रादिवृत्तयः ।
अन्यच्चाशुभमत्येति शुभं सर्वं प्रवर्धते ॥ ७८ ॥
विहारानुगृहीतायां भूमौ न डमरादयः ।
दशास्यस्तयुगंभर्तु रहोत्र महिमा महान् ॥ १०८ ॥ हरिवंश पुराणे
विभूत्योद्धतया भूत्यै जगतां जगतां विभुः ।
विजहार भुवंभव्यान् बोधयन् बोधदः क्रमात् ॥ १०९ ॥

हरिवंश पुराण पर्व ५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मद्विधोऽसमर्थः किमर्थं तर्हि तत् स्तोत्रं कर्तुं प्रवृत्तोऽसीत्याह–किमुतेत्यादि–किमुत कि
भगवद्विषये या अतिभक्तिः अत्यनुरागः सा मां बालं भगवत्स्तुतिकरणे नाभिज्ञं आलापयति
आभाषयति इदमेतत् संस्तवनं इत्थमुक्तप्रकारेण मां स्तुतिं कर्तुं प्रयोजयतीत्यर्थः ।। ५ ।।

अब कवि अपनी उद्धतता का परिहार करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ऋषेः) समस्त ऋद्धियों के निधान स्वरूप (तव) आपके (गुणा-म्बुधेः) गुण रूप सागर की (विप्रुषमपि) एक बूंद की भी (अजस्रम्) निरन्तर (स्तोतुं) स्तुति करने के लिये जब (आखण्डलः) इन्द्र (प्रागेव) पहले ही (अलं न) समर्थ नहीं हो सका है त (मादृक) मेरे जैसा असमर्थ मनुष्य (किमुत) कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। (अतिभक्तिः) यह तीव्र भक्ति ही (मां बालं) मुझ अज्ञानी से (इत्थं) इस तरह (इदं) इस स्तव को (आलापयति) कहला रही है ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप समस्त ऋद्धियों के भाण्डार तथा गुणों के सागर हैं । अवधि ज्ञा आदि विशिष्ट शक्ति का धारक इन्द्र जब पूर्व काल में आपकी स्तुति करने के लिये प्रवृत्त हुआ तब व आपके गुणसागर की एक बूंद की भी लगातार स्तुति नहीं कर सका तब मेरे जैसा असमर्थ-अल्प मनुष्य आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? फिर भी अज्ञानी होकर जो मैं इस त आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ–आपकी स्तुति में दो शब्द बोल रहा हूं सो यह आपकी तीव्रभ ही बुलवा रही है मैं स्वयं निज की शक्ति से नहीं बोल रहा हूँ, इस श्लोक में 'अजस्रं' के स्था पर 'अजस्य' इस पाठान्तर का संकेत भी संस्कृत टीकाकार ने किया है जिसका अर्थ होता है जन्म रहित अर्थात् संसार परिभ्रमण से दूरवर्ती । यह तव अर्थात् पद्मप्रभ भगवान का विशेषण है ॥५॥

इति पद्मप्रभ जिनस्तवनं समाप्तं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीसुपार्श्वजिनस्तवम्

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्नच तापशान्तिरितीद माख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥१॥

स्वास्थ्यमित्यादि—उपजातिच्छन्दः । स्वस्मिन् कर्मविमुक्ते आत्मस्वरूपे तिष्ठतीति स्वस्थमनन्तज्ञानादि तस्य भावः स्वास्थ्यं, कथंभूतं ? यत् आत्यन्तिकमविनश्वरम् । एष पुंसां स्वार्थः स्वस्यार्थः साध्यं प्रयोजनं । वैषयिक सुखाद्यनुभवः कुतो न स्वार्थ इत्यत्राह--न भोग इत्यादि--एष प्रतीयमानो वैषयिक सुखानुभवरूपो भोगो न स्वार्थः पुंसां, कुतः ? परिभङ्गुरात्मा यतः शाश्वतस्वरूपसिद्ध्यर्थो हि प्रेक्षावतां प्रयासो न च भोगः शाश्वतस्वभावो विषयसन्निधाने विद्युदुन्मेषमात्रभावित्तस्य । तथाविधोऽप्यसौ प्रशान्तिहेतुत्वात्स्वार्थो भविष्यतीत्याह—तृष इत्यादि--तृष उत्तरोत्तरभोगाकाङ्क्षाया अनुषङ्गात् अनुबन्धात् न च नैव तापशान्तिः तापस्य शरीरमानसदुःखस्य शान्तिरुपशम इत्येवं इदमात्मोत्थ वैषयिकसुखादीनां स्वरूपमाख्यदब्रवीत् भगवान् विशिष्टज्ञानवान् इन्द्रादीनां पूज्यो वा सुपार्श्वः सप्तमतीर्थंकरः, शोभनौ सर्वलक्षणोपेतौ पार्श्वौ शरीरोभयप्रदेशौ यस्य । पार्श्वावित्युपलक्षणं सकलाङ्गावयवानाम् ॥१॥

आगे सच्चे स्वास्थ्य का लक्षण कहते हुए कहते हैं--

अन्वयार्थ—(यत् आत्यन्तिक स्वास्थ्यम्) जो अविनाशी स्वरूपलीनता है (एष) यही (पुंसां) जीवात्माओं का (स्वार्थः) निजी प्रयोजन है (परिभङ्गुरात्मा) क्षणभङ्गुर (भोगः) भोग (स्वार्थः न) निजी प्रयोजन नहीं है । (तृषः) उत्तरोत्तर भोगाकाङ्क्षा की (अनुषङ्गात्) वृद्धि से (न च तापशान्तिः) ताप की शान्ति नहीं होती है (इति इदम्) इस प्रकार यह विवेक (भगवान् सुपार्श्वः) विशिष्टज्ञानी सुपार्श्वनाथ ने कहा है ।

भावार्थ—कर्म से रहित आत्मस्वरूप में स्थित रहने से अनन्तज्ञानादि स्वस्थ कहलाते हैं उनका जो भाव है उसे स्वास्थ्य कहते हैं । इस प्रकार ज्ञानादि गुणों की जो स्वाभाविक परिणति है वही आत्मा का स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है । वैषयिक सुखों का अनुभव निजी प्रयोजन नहीं है क्योंकि वैषयिक सुख का अनुभव विजली की कौंद के समान क्षणभङ्गुर है इसके सिवाय वैषयिक सुखों के अनुभव से तृष्णा की वृद्धि होती है जिस प्रकार इन्धन से अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती है उसी प्रकार वैषयिक सुखों से तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है । तृष्णा की वृद्धि होती रहने से न शारीरिक ताप की शान्ति होती है और न मानसिक ताप की । संसार का प्राणी अनादिकाल से भोग सामग्री में संलीन होकर उसी के एकत्र करने में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात दिन लग रहा है यहां भगवान् सुपार्श्वनाथ ने कहा है कि हे भद्रप्राणी ! जिन भोगों के पीछे तू पड़ रहा है वे शान्ति के कारण नहीं हैं इसलिये इनकी ओर से दृष्टि हटाकर स्वभाव की ओर दृष्टि दे, उसी से तेरे शारीरिक और मानसिक ताप की शान्ति होगी। भगवान् सुपार्श्वनाथ उत्तमपार्श्व-सुन्दर पसलियों अथवा उपलक्षण से समस्त सुन्दर अवयवों के धारक थे इसलिये उनका 'सुपार्श्व' नाम सार्थक था। साथ ही वे भग-विशिष्ट ज्ञान अथवा अपरिमित ऐश्वर्य के धारक होने से भगवान् कहलाते थे ॥१॥

न केवलं तत्सुखादीनां स्वरूपं कथितवान् अपि तु शरीरस्य चेत्याह--

अजङ्गमं जङ्गमनेय यन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥ २ ॥

अजङ्गममित्यादि---अजङ्गमं बुद्धिपूर्वकपरिष्पन्द व्यापार रहितं, जङ्गमनेय यन्त्रं जङ्गमनेयं च तद्यन्त्रं क्रीडार्थं रचितं हस्त्यादिरूपं तदजङ्गमं यथा जङ्गमेन तन्मध्यस्थित पुरुषेण नेयं कार्येषु प्रवर्तनीयं तथा जङ्गमं शरीरं जीवधृतं सकलकार्येषु गमनादिषु जीवायत्तप्रवृत्तिकं, पुनरपि कथंभूतं ? बीभत्सु विरूपकं, पूति दुर्गन्धसहितं, क्षयि विनाशि, तापकं च बहुदुःखकारि, अत्रास्मिन्नेवंविधे शरीरे स्नेहोऽनुरागो वृथा निःफलः, मोक्षे तत्कारणे चानुरागः कर्तव्य इत्यर्थः इत्येवं हितं त्वमाख्यः, हितस्य मोक्षसौख्यस्य तत्कारणस्य च वैराग्यादेः कारणत्वादेतत् शिक्षारूपं वचो हितं सुपार्श्वो भगवानाख्य उपदिष्टवान् ॥२॥

भगवान् ने न केवल उक्त सुखादि का उपदेश दिया किन्तु शरीर के उपदेश का भी क्रम रखा है यह कहते हैं----

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (जङ्गमनेययन्त्रं) गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित होता हैं (तथा) उसी तरह (जीवधृतं) जीवके द्वारा धारण किया हुआ (शरीरं) शरीर स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित है—जड है। साथ ही यह शरीर (बीभत्सु) घृणित (पूति) दुर्गन्ध से युक्त, (क्षयि) विनश्वर (च) और (तापकं) संताप उत्पन्न करने वाला है इसलिये (अत्र) इस शरीर में (स्नेहः) अनुराग करना (वृथा) व्यर्थ है (इति) यह (हितं) हितकारक वचन (त्वम्) हे सुपार्श्व जिन ! आपने (आख्यः) कहा है।

भावार्थ—मनुष्य का सब से अधिक राग अपने शरीर से होता है स्त्री पुत्र तथा मकान आदि से जो राग है वह शरीर को आराम पहुँचाने वाले होने से शरीर मूलक ही होता है इसलिये इस श्लोक में शरीर की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार क्रीडा के लिये रचा हुआ हाथी घोड़ा आदि का यन्त्र जड़ होने से स्वय निःस्पन्द-निश्चेष्ट होता है किन्तु उसके बीच में स्थित पुरुष के द्वारा चालित होता है उसी प्रकार यह शरीर पुद्गल रूप जड़ पदार्थों से रचित होने के कारण स्वयं निष्पन्द है—गति से रहित है किन्तु मध्य में स्थित जीव के द्वारा गति शील होता है—गमना गमन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है और विषयों में प्रवृत्त होता है। हे आत्मन्! तू ज्ञान का पुञ्ज गति शील चेतन द्रव्य है और तेरा यह शरीर तुझ से अत्यन्त भिन्न अचेतन द्रव्य है। तेरा शरीर रूप परिणमन त्रिकाल में नहीं हो सकता है और शरीर का भी तुझ रूप परिणमन त्रिकाल में संभव नहीं है फिर भिन्न पदार्थ में अनुराग कैसा? इसके सिवाय यह शरीर मल मूत्र से युक्त होने के कारण अत्यन्त घृणित है, दुर्गन्धित है, विशरण—गलन रूप होने से विनश्वर है और भोगाकांक्षाओं का पूरक न होने से संताप उत्पन्न करने वाला है। इसलिये इस विजातीय घृणित परद्रव्य में स्नेह करना—इसे अपना समझना व्यर्थ है इस प्रकार के हितकारक वचन हे सुपार्श्वजिन! आपने कहे थे।

यदि भगवान् हितमुपदिष्टवान् तदा भवदीयं वचः श्रुत्वा किमिति सर्वोऽपि जनः शरीरादिषु विरज्य हिते मार्गे न प्रवर्तत इत्याह—

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वया विष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ३

अलङ्घ्यशक्तिरित्यादि—अलङ्घ्या अनतिक्रमणीया शक्तिः सामर्थ्यं यस्याः सा अलङ्घ्यशक्तिः, कासौ? भवितव्यता दैवं कर्मेत्यर्थः। कुतः सा तथाविधा प्रतिपन्ना प्रत्यक्षादनुमानाद्वा? न तावत्प्रत्यक्षात् अतीन्द्रियतया तस्याः अस्मदादि प्रत्यक्षागोचरत्वात्। अथानुमाना दसौ प्रतिपन्ना तर्हि किमत्र लिङ्गमिति? अत्राह—हेतुद्वया विष्कृत कार्यलिङ्गा हेत्वोः शुभेतर कर्मलक्षणयो र्बाह्याभ्यन्तर स्वरूपयो र्वा द्वयं तेना विष्कृतं जनितं यत्कार्यं मिष्टानिष्टार्थलाभलक्षणं तल्लिङ्गं यस्याः। ननु मन्त्रतन्त्रादिदृष्टसामग्रीसमन्वितो जीव एव सुखदुःखादिकार्यकर्ता भविष्यति तत्कथं कार्य लिङ्गाद्भवितव्यता अनुमीयत इत्याशङ्क्याह—अनीश्वर इत्यादि, न ईश्वरोऽप्रभुरसमर्थः,कोऽसौ? जन्तुः प्राणी, कथंभूतो? अहंक्रियार्त, अहंक्रियाभिरहंकारै र्व्यामोहरुपैरार्तः पीडितः संसारी जीवो भवितव्यता निरपेक्षोऽसमर्थ इत्यर्थः। क्व? कार्येषु सुखादिषु, कथं? संहत्य सुखादिकार्योत्पादकेषु मन्त्रतन्त्रादिसहकारि कारणेषु मिलित्वा। यदि हि भवितव्यतानपेक्षस्तत्सहिततामात्रेणात्मा तत्र समर्थः स्यात् तदा सर्वेषां तत्सहितानां समानं फलं स्यात्, नचैव मस्ति समानोपदेशानां समानमन्त्रतन्त्राद्यनुष्ठायिनां समानाहारावासानामपि केषां चिन्तत्सफलं, दृश्यते केषांचित्तु निष्फलम्, अतो येषामदृष्टं प्राज्जलं तेषां तत्सफल मन्येषां तु निष्फलमिति सिद्धान्तः तत्कार्यलिङ्गा भवितव्यता अतएवोक्तं इयमितिइयं सकललोकप्रसिद्धा कार्यलिङ्गतया भवितव्यता। अथवा अलङ्घयशक्तिर्भवितव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेय मित्ययुक्तमुक्तं संसारमोक्षादि कार्यगामीश्वरकृतत्वादित्याशङ्क्याह — अयमहंक्रियार्त्तः संसारी जन्तुरनीश्वरो न विद्यते ईश्वरः कारणमस्येत्यनीश्वरः, क्व ? संहत्यकार्येषु संहत्यानि संघातरूपाणी वहूनीत्यर्थः यानि कार्याणि तेषु, अयमर्थः ईश्वरस्यैकभाबस्यास्य च विभिन्न देशकालं१ कारण नरकादि कार्यकर्तृत्वमयुक्त मेकस्वभावत्वा२नुषङ्गान्निर्घृणत्वप्रसङ्गाच्च। तदहृष्टवशात्तथाकर्तृत्वे सिद्धेश्वरस्यापि भवितव्यता वशात्प्रवृत्तिः तस्मान्नासौ प्राणिनां दुःखादि कार्येषु कारणं किन्तु भविभवितव्यतैव तत्कारण मित्येवं साधु यथा भवति तथा वादीरुक्तवान् ततः सिद्धं भवितव्यताया अलङ्घय शक्तित्वम् ॥ ३ ॥

यदि भगवान् ने हित का उपदेश दिया था तो उनके वचन सुनकर सभी लोग शरीरादि से विरक्त होकर हित के मार्ग में क्यों नहीं लगे यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हेतुद्वया विष्कृत कार्यलिङ्गा) शुभ अशुभ कर्म अथवा वाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिङ्ग —ज्ञापक है ऐसी (इयं) यह (भवितव्यता) भवितव्यता–होनहार (अलङ्घयशक्तिः) अलङ्घयशक्ति है–किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती तथा भवितव्यता की अपेक्षा नहीं रखने वाला (अहंक्रियार्तः) अहंकार से पीडित हुआ (जन्तुः) संसारी प्राणी (संहत्य) अनेक सहकारी कारणों से मिलकर भी (कार्येषु) सुख दुःखादि (कार्येषु) कार्यों में (अनीश्वरः) असमर्थ है हे सुपार्श्व जिनेन्द्र ! आपने (इति) यह (साधु) ठीक ही (अवादीः) कहा है।

भावार्थ—जीवों के सुख दुःखादि रूप कार्यों की उत्पत्ति उनके शुभ अशुभ कर्मों के उदय की अनुकूलता होने पर होती है अथवा अन्तरङ्ग और वाह्य—३उपादान और निमित्त दोनों कारणों की योग्यता होने पर होती है दोनों में से एक की कमी रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ! इस तरह दोनों कारणों की अनुकूलता से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी भवितव्यता–होनहार को कोई टाल नहीं सकता । भवितव्यता की अपेक्षा न कर मात्र पुरुषार्थ की अपेक्षा रखने वाला अहंकारी मनुष्य सब सामग्री जुटा कर भी कार्य करने में असमर्थ रहता है । यदि ऐसा न होता तो समान उपदेश को प्राप्त समान मन्त्र तन्त्र आदि का अनुष्ठान करने वाले एवं समान आहार तथा समान आवास को ग्रहण करने वाले लोगों में किन्हीं का कार्य सफल देखा जाता है और किन्ही का निष्फल यह नहीं होता । इससे जान पड़ता है कि जिनका कर्मोदय अनुकूल है उनका कार्य सफल हो जाता है और जिनका कर्मोदय अनुकूल नहीं है उनका कार्य सफल नहीं हो पाता है । कर्मोदय की अनुकूलता ही भवितव्यता कहलाती है यह भवितव्यता अलङ्घय शक्ति है–इसे कोई टाल नहीं सकता है । इसी भवितव्यता को दैव, अदृष्ट, भाग्य अथवा कर्म कहा जाता है । अन्तरङ्ग कारण की अपेक्षा भवितव्यता और बहिरङ्ग कारण की अपेक्षा पुरुषार्थ दोनों का स्थान जैनागम में निरूपित है । अबुद्धि पूर्वक जो कार्य सिद्ध होते हैं उनमें भवितव्यता को प्रधानता दी जाती है और बुद्धि पूर्वक जो कार्य सिद्ध होते हैं उनमें पुरुषार्थ की

१ कालाकार नरकादि–ख० । २ एक स्वभावत्वाभावानुषङ्गात् ख० ।

३ 'कारणद्वय सान्निध्यात्सर्वं कार्यं समुद्भव.' उत्तरपुराण पर्व ७३ श्लोक ५३

कर्मोदय अनुकूल लगता [illegible] ६ |

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधानता दी जाती है अनेकान्त की शैली से दोनों का समन्वय होता है। यहां ईश्वरवादी यह कहते हैं कि 'भवितव्यता अलङ्घय शक्ति है, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि संसार और मोक्ष ईश्वर का किया हुआ है। ईश्वर की इच्छानुसार ही जीवों का संसार और मोक्ष होता है इसका समाधान करने के लिये संस्कृत टीकाकार 'अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः' इस वाक्य का ऐसा अर्थ करते हैं कि 'अहंकार से पीडित संसारी जीव अनीश्वर है' अर्थात् संसारी जीव कार्यों में ईश्वर की कारणता को स्वीकृत नहीं करते हैं क्योंकि एक स्वभाव वाले ईश्वर से किसी को नरक हो तथा किसी को स्वर्ग हो इस तरह विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्यों की विभिन्नता देखते हुए यदि यह माना जाय कि जिसका जैसा अदृष्ट होता है उसे ईश्वर वैसा ही नरक अथवा स्वर्ग देता है तो इस मान्यता से यही सिद्ध होता है कि जीवों की भवितव्यता ही नरक अथवा स्वर्गादि का कारण है न कि ईश्वर। क्योंकि भवितव्यता के विना स्वतन्त्र रूप से ईश्वर कुछ नहीं कर सकता। हे सुपार्श्व जिनेन्द्र! यह उत्तम-हितकारक वात आपने कही है कारण कार्य के विषय में यह हितकारक मार्ग आपने लोगों को वताया है ॥ ३ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह--

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो बृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥

बिभेतीत्यादि--बिभेति त्रस्यति, जन्तुः कस्मात्? मृत्योः, न च ततो बिभ्यदप्यसौ भवितव्यतासामर्थ्यादुद्भ्रियत इत्याह--नेत्यादि--ततो मृत्योर्मोक्षो मुक्तिर्न जन्तोरस्ति विद्यते। तथा नित्यं सर्वदा शिवं सुखं निर्वाणं वा वाञ्छति जन्तुः भवितव्यतायां तु प्रतिकूलायां नास्य शिवस्य लाभः प्राप्तिः तथापि तत्प्रतिकूलतायां तदलाभेऽपि बालो अज्ञो जन्तुः भयकामवश्यो भयं मरणादौ त्रासः कामः सुखाद्यभिलाषस्तयोर्वश्य आधीनो वृथा मुधा स्वयमात्मना तप्यते क्लिश्यत इत्येवं अवादरीरब्रवीस्त्वम्। यो हि प्रेक्षापूर्वकारी स प्रतिकूलायां भवितव्यतायां नेष्टं कार्यं सिध्यतीति ज्ञात्वा तदनुकूलता सिद्ध्यर्थमेव यतते तत्सिद्धौ च सर्वमिष्टकार्यं सिध्यतीति ॥४॥

आगे यही दिखलाते हुए कहते हैं--

अन्वयार्थ—यह जीव (मृत्योः) मरण से (बिभेति) डरता है परन्तु (ततः) उससे (मोक्षः) छुटकारा (न अस्ति) नहीं है (नित्यं) सदा (शिवं कल्याण अथवा निर्वाण की (वाञ्छति) इच्छा करता है परन्तु अस्य लाभः न) इसकी प्राप्ति नहीं होती (तथापि) फिर भी (भय काम वश्यः) भय और काम के वशीभूत हुआ (बालः) अज्ञानी प्राणी (स्वयं) स्वयं ही (वृथा) निष्प्रयोजन (तप्यते) दुःखी होता है हे भगवन् (इति) यह आपने (अवादीः) कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—ऊपर के श्लोक में भवितव्यता को अलंघ्यशक्ति बतलाया था इस श्लोक में भी उसी की पुष्टि करते हुये कहा है कि भवितव्यता की अनुकूलता न होने पर यह जीव मृत्यु से डरता है—मृत्यु से बचने के लिये बुद्धि पूर्वक अनेक प्रयास करता है परन्तु आयु कर्म के उदय की अनुकूलता न होने पर मृत्यु से इसका छुटकारा नहीं होता—रञ्चमात्र भी आयु में वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार निरन्तर सुख की इच्छा करता है परन्तु कर्मोदय की अनुकूलता न होने पर इसे सुख प्राप्त नहीं होता अथवा मोक्ष की इच्छा करता है उसके अनुकूल तपश्चरण आदि भी करता है परन्तु उपादान—आत्मा की अनुकूलता न होने पर इसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह जीव दोनों कारणों की अनुकूलता का ध्यान न रख मात्र अपने पुरुषार्थ के वल पर कार्य सिद्ध करना चाहता है और कार्य सिद्ध न होने पर दुःख का अनुभव करता है इस सब में मूल कारण इस जीव का बालभाव-अज्ञान ही है— हे सुपार्श्व जिनेन्द्र ! यह यथार्थ बात आपने बतलाई है ॥ ४ ॥

ननु हेयोपादेये च तत्वे यथावत् परिज्ञाते उपदेशः प्रमाणतां प्रतिपद्यते न च भगवत-स्तत्परिज्ञानं संभवती त्याशङ्कयाह—

सर्वस्य तत्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥५॥

सर्वस्येत्यादि—सर्वस्य हेयोपादेयस्य तत्कारणभूतस्य च तत्वस्य भवान् सुपार्श्व-जिनः प्रमाता प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन माता परिच्छेदकः, स इत्थंभूतो भगवान् बालस्य हेयोपादेयविवेक विकलस्य हितानुशास्ता—हितं निश्रेयसं तत्कारणं च सम्यग्दर्श-नादि तस्यानुशास्ता उपदेशकः। क इव कस्य ? मातेव बालस्य इव शब्दो यथार्थे यथा बालस्यापत्यस्य वा माता जननी हितमुपकारकमनुशास्ति तथा भगवानप्यज्ञस्य जन्तोर्हित-मुपादिशत्। भगवान् किं सर्वस्य सन्मार्गे प्रवर्तको भवति किं वा कस्यचिदेवेत्याशङ्कयाह—गुणावलोकस्येत्यादि—गुणान्मोक्ष हेतुभूतान् सम्यग्दर्शनादीनवलोकते अन्वेषत इति गुणाव-लोको जनो भव्यजन इत्यर्थः तस्य नेता सन्मार्गप्रवर्तकः। यत इत्थंभूतो भगवान् ततो मयापि न केवलं गणधरदेवादिभिः किन्तु मयापि समन्तभद्रस्वामिना स्तावकेन परिप्राप्तसन्मार्ग-स्वरूपेण परि समन्तात् मनोवाक्कायैर्नूयसे स्तूयसे अद्य इदानीम् ॥५॥

यहां कोई कहता है कि हेयोपादेय तत्व का ठीक २ ज्ञान होने पर ही उनका उप-देश प्रामाणिकता को प्राप्त होता है—

अन्वयार्थ—(भवान्) आप (सर्वस्य तत्वस्य) समस्त जीवादि पदार्थों के (प्रमाता) संशया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित ज्ञाता हैं, (बालस्य) सन्तान को (मातेव) माता के समान (बालस्य) अज्ञानी जनों को (हितानु शास्ता) हित का उपदेश देने वाले हैं और (गुणावलोकस्य जनस्य) सम्यग्दर्शनादि गुणों का अन्वेषण करने वाले भव्यसमूह के (नेता) सन्मार्ग दर्शक हैं अतः (अद्य) आज (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (परिणूयसे) मन वचन काय से स्तुत हो रहे हैं—मैं मनसा वाचा कर्मणा आपकी स्तुति कर रहा हूं।

भावार्थ—इस श्लोक के पूर्व शङ्का उठाई गई थी कि हेयोपादेय तत्त्व का ठीक ठीक ज्ञान होने पर ही वक्ता का उपदेश प्रमाणता को प्राप्त होता है परन्तु भगवान् के हेयोपादेय तत्त्व का ठीक ज्ञान संभव नहीं है— इस शङ्का का उत्तर देते हुए कहा गया है कि—भगवान् सुपार्श्वनाथ समस्त तत्वों के प्रमाता हैं--संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञाता हैं। जिस प्रकार माता अपनी सन्तान को विना किसी स्वार्थभावना के हित का उपदेश देती है उसी प्रकार भगवान् सुपार्श्वनाथ भी हेयोपादेय के विवेक से विकल अज्ञानी जन को हित—मोक्ष तथा उसके कारण—सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देते हैं तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों का अवलोकन करने वाले भव्य जीवों के नेता हैं–सन्मार्ग के दर्शक हैं इन्हीं सव कारणों से आज मैं भगवान् सुपार्श्व जिनेन्द्र की स्तुति करता हूं ॥ ५ ॥

इतिसुपार्श्व जिनस्तवनम्

श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥१॥

चन्द्रप्रभमित्यादि—उपजातिच्छन्दः। चन्द्रस्येव प्रभा यस्यासौ चन्द्रप्रभः अष्टमतीर्थंकरस्य संज्ञेयं, अन्वर्था चेयं संज्ञा, एतदेव चन्द्रेत्यादिना दर्शयति–चन्द्रस्य मरीचयः किरणास्तद्वद् गौरं शुक्लं तथाभूतं भगवन्तं जगति द्वितीयमिव चन्द्रं कथंभूतं कान्तं सकलार्थोद्योतिकेवलज्ञान प्रभाभराधारतया चन्द्रादतिशयेन कान्तं कमनीयं दीप्तं, तमित्थंभूतं चन्द्रप्रभं भगवन्तं वन्दे। पुनरपि कथंभूतं ? अभिवन्द्यं अभिसमन्ताद्वन्द्यं पूज्यं महतां महद्भिरिन्द्रादिभिरित्यर्थः, ऋषीन्द्रं ऋषीणां गणधर देवादीनामिन्द्रं स्वामिनं, जिनमशेषकर्मोन्मूलकं, जितेत्यादि–अत्र त्रिधा पाठः–केचित्तावज्जितस्वान्तकषाय बन्ध मिति पठन्ति, अस्यायमर्थः स्व इत्यनेन चन्द्रप्रभस्वामी गृह्यते तस्यान्तो धर्मो न प्रकृत्यादेः स चासौ कषायबन्धश्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स जितो येन स १तथोक्तस्तं । केचित्तु जितास्वान्त कषायबन्धमिति पठन्ति—अस्यायमर्थः सुखेन अन्तो विनाशः स्वन्तः न विद्यते स्वन्तो यस्य कषायबन्धस्यासावस्वन्तो जितोऽस्वन्तः कषाय२बन्धो येन स तथोक्तस्तमिति ३[अन्ये तु जितास्वान्तकषाय मिति पठन्ति । अत्रायमर्थः स्वान्तं मनः प्रकृति विकाररूपं तस्य कषायैः क्रोधादिभिः बन्धो नात्मनेति सांख्यमतं तत्तथा निषिध्यते, न स्वान्त कषाय बन्धः अस्वान्त कषाय बन्ध आत्मन स्तद्बन्ध इत्यर्थः जितो अस्वान्त कषाय बन्धो येन स तथोक्तमिति ।] ॥१॥

भगवान् के चन्द्रप्रभ नामकी सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—मैं (चन्द्रमरीचिगौरं) चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण, (जगति) संसार में (द्वितीयं चन्द्र मिव कान्तं) दूसरे चन्द्रमा के समान सुन्दर, (महतां) इन्द्र आदि बड़े बड़े जनों के (अभिवन्द्यं) वन्दनोय, (ऋषीन्द्रं) गणधरादि ऋषियों के स्वामी (जिनं) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले और (४जितस्वान्तकषायबन्धम्) अपने विकारी भाव स्वरूप कषाय के बन्धन को जीतने वाले (चन्द्रप्रभं) चन्द्रमा के समान कान्ति के धारक चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थंकर को (वन्दे) वन्दना करता हूं ।

भावार्थ—इस श्लोक में अष्टमतीर्थंकर के वाह्य और अभ्यन्तर रूपों का वर्णन करते हुए समन्तभद्रस्वामी ने उन्हें नमस्कार किया है । वाह्य रूपका वर्णन करते हुए कहा है कि वे चन्द्रमा के समान प्रभा के धारक थे, चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण थे और अपनी सुन्दरता से ऐसे जान पड़ते थे मानों जगत् के दूसरे चन्द्रमा ही हों । तथा आभ्यन्तर रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वे कर्म रूप शत्रुओं को जीतने के कारण जिन कहलाते थे, उन्होंने अपने विकारी भाव स्वरूप कषाय के बन्ध को जीत लिया था, इसीलिये गणधरादि ऋषियों के वे स्वामी थे और इन्द्र आदि बड़े २ पुरुष उन्हें सब ओर से नमस्कार करते थे ॥१॥

पुनरपि कथंभूतं चन्द्रप्रभमित्याह—

यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश वाह्यं बहुमानसं च ध्यान प्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥

यस्येत्यादि—यस्य चन्द्रप्रभतीर्थंकर देवस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं अङ्गं देहस्तस्य

---

१ यथोक्तस्तं ख. २ कषायात्मबन्धो ख. ३ कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क. प्रतौनास्तिः ।
४ यहां संस्कृत टीकाकार ने तीन प्रकार के पाठों का उल्लेख किया है जो संस्कृत टीका में द्रष्टव्य है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मीः परमकान्तिस्तस्या परिवेषो मण्डलं तेन भिन्नं विदारितं ननाश नष्टं किं तत् ? तमः, कैरिवेत्याह—तमोरेरित्यादि—तमसोऽन्धकारस्यारिस्तमोरिरादित्य स्तस्य रश्मयः किरणास्तैरिव भिन्नं ध्वस्तं न केवलं बाह्यमेव ननाश बहु मानसं च मनसि चिदात्मन्यात्मस्वरूपे भवं मानसं तमोऽज्ञानं कथंभूतं ? बहु प्रचुरमनेक प्रकारं ज्ञानावरणादेर्यन्निबन्धनं, चकारः समुच्चये, कथंभूतः सन् ? तन्ननाशेत्याह—ध्यानेत्यादि—ध्यानमेव प्रदीपोऽज्ञानतमोऽपहन्तृत्वात् तस्यातिशयः परम प्रकर्षस्तेन भिन्नं विदारितं ॥ २ ॥

चन्द्रप्रभ भगवान् की विशेषता बतलाते हुये कहते हैं—

अन्वयार्थ—*(यस्य) जिनके (अङ्गलक्ष्मी परिवेषभिन्नं) शरीर सम्बन्धी दिव्य प्रभा मण्डल से विदारित (बहु) बहुत सारा (बाह्यं तमः) बाह्य अन्धकार (च) और (ध्यान प्रदिपातिशयेन) शुक्लध्यान रूपी श्रेष्ठ दीपक के अतिशय से (भिन्नं) विदारित (बहु) बहुत सारा (मानसं तमः) मानसिक अज्ञानान्धकार (तमोरेः) सूर्य की (रश्मिभिन्नं) किरणों से विदारित (तम इव) अन्धकार के समान (ननाश) नष्ट हो गया था।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य की किरणों से खण्डित हुआ दिग्दिगन्त व्यापी रात्रि सम्बन्धी अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिन चन्द्रप्रभ भगवान् के शरीर की श्रेष्ठ कान्ति के मण्डल से खण्डित हुआ निकटवर्ती अन्धकार का भारी समूह नष्ट हो गया था तथा जिनके शुक्ल ध्यानरूपी प्रकृष्ट श्रेष्ठतम दीपक के अतिशय से खण्डित हुआ बहुत सारा मानसिक अन्धकार—अज्ञान का समूह नष्ट हो गया था वे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मन को पवित्र करें। पूर्व श्लोक के समान इस श्लोक में भी चन्द्रप्रभ भगवान् के बाह्य और अभ्यन्तर दोनों रूपों का दिग्दर्शन किया गया है ॥ २ ॥

इत्थंभूतस्य च भगवतो वचः श्रुत्वा स्वपक्षाहंकारच्युताः परवादिनः संपन्ना इति दर्शयन्नाह—

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्तावाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥३॥

स्वपक्षेत्यादि—स्वस्य पक्षो मतं तस्य सौस्थित्यं सुस्थितत्वं तस्मिन्मदोऽस्मदीपमेव मतं शोभनं बाधा रहितं बाधाविधुरं यथा भवत्येवं स्थितं नान्यदिति दर्पः तेनावलिप्ताः समन्विताः के ते ? प्रवादिनः प्रगतं प्रमाणानुप पन्नं वदन्तीत्येवंशीलाः प्रवादिनोऽन्यतीर्थास्ते बभूवुः संजाताः ? कथंभूताः ? विमदा विगतदर्पाः, कैः ? वाक्सिंहनादैः वाचः सिंहनादाः पर परा-

* २, ३ और ४ श्लोक का क्रिया सम्बन्ध ५ श्लोक से है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयहेतुत्वात् अजय्यत्वाच्च तैः, कस्य ? यस्य चन्द्रप्रभस्वामिनः, दृष्टान्तमाह — मदार्द्रेत्यादि यथा केसरिणः सिंहस्य निनादैः शब्दैर्गजा हस्तिनो मदार्द्रगण्डा मदार्द्रकपोला विमदा बभूवु स्तथा भगवद्वचोभिः परवादिन इति ।। ३ ।।

अब इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर प्रतिवादी मद रहित हो गये यह कहते हैं-

अन्वयार्थ— (यथा) जिस प्रकार (केसरिणः) सिंह की (निनादैः) गर्जनाओं से (मदार्द्रगण्डाः) मद से गीले गण्डस्थलों के धारक (गजाः) हाथी (विमदाः) मद से रहित हो जाते हैं [तथा] उसी प्रकार (यस्य) जिनके (वाक्सिंहनादैः) वचन रूप सिंहनादों के द्वारा (स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः) अपने मत-पक्ष की सुस्थिति के घमण्ड से गर्वीले (प्रवादिनः) प्रवादी जन (विमदाः) गर्व रहित (बभूवुः) हो जाते थे ।

भावार्थ—यहां भगवान् चन्द्रप्रभ के अकाट्य वचनों की महिमा प्रकट की जा रही है । कहा गया है कि उनके वचन इतने अकाट्य-युक्ति संगत होते थे कि उन्हें सुन कर अच्छे अच्छे प्रवादियों का मद चूर हो जाता था । साधारण प्रवादी नहीं किन्तु ऐसे प्रवादी जो अपने पक्ष की स्थिरता के अहंकार से लिप्त थे, जिन्हें इस बात का अभिमान था कि हमारे पक्ष को कोई खण्डित नहीं कर सकता । और वे भी उस तरह मद रहित होते थे जिस तरह कि सिंह की गर्जना सुन कर बडे बड़े मदस्रावी हाथी मद रहित होते हैं । जिनके वचनों की ऐसी महिमा है वे चन्द्रप्रभ भगवान् हमारे मन को पवित्र करें ।।३ ।।

पुनरपि किं विशिष्टो यो भगवान् संपन्न इत्याह—

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुत कर्मतेजाः ।
अनन्त धामाक्षरविश्वचक्षुः समन्त दुःखक्षयशासनश्च ।। ४ ।।

यः सर्वलोक इत्यादि—यः चन्द्रप्रभतीर्थंकर देवः सर्वलोके त्रिभुवने परमेष्ठितायाः परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी परमाप्तः तस्य भावः परमेष्ठिता परमाप्तता तस्याः पदं स्थानं बभूव संजातः । कथंभूतः ? अद्भुत कर्मतेजाः अद्भुत मचिन्त्यं कर्मणोऽनुष्ठानविशेषात्सकाशाद् तेजः केवलज्ञानलक्षणं परमज्योतिर्यस्य, यदि वा अद्भुत मचिन्त्यं कर्मणि सकल प्राणिगण प्रबोधनव्यापारे निमित्तभूतं तेजः केवलज्ञानस्वरूपः पदार्थप्रकाशो यस्य स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूत इत्याह—अनन्तेति—अनन्तं च तद्धाम च केवलज्ञानं तदेवाक्षरमविनश्वरं शाश्वतं विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुर्यस्य । न केवलं प्रागुक्त विशेषण विशिष्ट एव भगवानपि तु समन्त दुःखक्षयशासनश्च समन्तात् निःशेषतो दुःखानां चतुर्गतिभुवां क्षयो विनाशो यस्माद् तत् समन्तदुःखक्षयंमोक्ष प्रदमित्यर्थः तत्तथाविधं शासनं मतं यस्य ।। ४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् फिर कैसे हैं यह बतलाते हैं–

अन्वयार्थ—(यः) जो (सर्वलोके) समस्त संसार में (परमेष्ठितायाः) परमाप्तपना के (पदं) स्थान (बभूव) थे, (अद्‌भुत कर्मतेजाः) तीव्रतपश्चरण रूप कार्य से जिनका तेज अद्‌भुत अचिन्त्य था अथवा समस्त प्राणि समूह को प्रतिबोधित करने रूप कार्य में जिनका केवल ज्ञान रूप तेज आश्चर्य कारक था, (अनन्तधामा क्षर विश्वचक्षुः) अनन्त केवल ज्ञान ही जिनका लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अविनाशी चक्षु था, (च) और जिनका शासन चतुर्गति के दुःखों का क्षय करने वाला था ।

भावार्थ—भगवान् चन्द्रप्रभ तीनों लोकों में परमाप्तपना–उत्कृष्ट अरहन्त अवस्था के पद थे कर्मरूप शत्रुकों का घात कर वे सर्वोत्कृष्ट पद में स्थित हुए थे । कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिये उन्होंने कठिन अनुष्ठान किया था तीव्र तपश्चरण किया था और उसके फल स्वरूप उन्हें आश्चर्यकारी तेज–केवलज्ञान रूप परम प्रकाश प्राप्त हुआ था । सर्वोत्कृष्ट अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को धारण करने वाला केवलज्ञान रूप तेज ही लोकालोक को प्रकाशित करने वाला उनका नेत्र था तथा उनका शासन, जिसमें चारों गतियों के दुःखों का क्षय हो जाता है ऐसे मोक्ष को देने वाला था । इन सब गुणों से विशिष्ट अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान् हमारे मन को पवित्र करें ।। ४ ।।

पुनरपि कथंभूत इत्याह–

स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां विपन्न दोषाभ्रकलङ्कलेपः ।
व्याकोशवाङ्न्याय मयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥ ५ ॥

स चन्द्रमा इत्यादि—स प्रागुक्त विशेषण विशिष्टो भगवान् चन्द्रमाः विकासकः, कासां ? भव्यकुमुद्वतीनां कुमुदानि आसां सन्ति कुमुद्वत्यः कुमुदिन्यः कुमुदादिभ्यः 'कुमुदनड्वेतसा ड्मिडत्; इति मतोर्डिदतिदेशाद्दकाराकारलोपः, भव्या एव कुमुद्वत्यो भव्यकुमुद्वत्यस्तासां, कथंभूत इत्याह–विपन्नेत्यादि–अभ्राणि च कलङ्काश्चाभ्रकलङ्का दोषा एवाभ्रकलङ्का तैरूपलेपः आत्मस्वरूप प्रच्छादनं विपन्नो विनष्टो दोषाभ्रकलङ्कलेपो यस्य । पुनरपि कथंभूत इत्याह–व्याकोशेत्यादिव्याकोशा विकसिताः सुव्यक्ता वाचः तासां न्यायो नीति प्रणयनं स एव मभूखानां किरणानां माला यस्य स तथोक्तः, स इत्थंभूतो भगवान् पूयात् पवित्री करोतु ? कर्ममल विशुद्धिं करोत्विसयर्थः । किं तत् ? मनः, कस्य ? मे समन्तभद्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामिन:, किंविशिष्टो भगवांश्चन्द्रप्रभतीर्थंकरदेव:, पवित्र: कर्ममल विशुद्ध: ॥ ५ ॥

चन्द्रप्रभ भगवान् फिर कैसे हैं यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—जो (भव्यकुमुद्वतीनां चन्द्रमा:) भव्यजीव रूप कुमुदिनियों को विकसित करने के लिये चन्द्रमा हैं, (विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेप:) जिनका रागादि दोष रूप मेघकलङ्क का आवरण नष्ट हो गया है, (व्याकोशवाङ्न्यायमूयूखमाल:) जो अत्यन्त स्पष्ट वचनों के न्यायरूप किरणों की माला से युक्त हैं तथा (पवित्र:) कर्ममल से रहित होने के कारण जो अत्यन्त विशुद्ध हैं (स:) वे चन्द्रप्रभ भगवान् (मे) मेरे (मन:) मन को (पूयात्) पवित्र करें ।

भावार्थ—यहां रूपका लंकार से चन्द्रप्रभ भगवान् में चन्द्रमा का आरोप किया गया है जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदिनियों को विकसित करता है उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् भव्यजीव रूप कुमुदिनियों को विकसित करने वाले थे, वर्तमान चन्द्रमा मेघरूप कलङ्क के आवरण से आच्छादित हो जाता है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् दोष रूपी मेघ कलङ्क के आवरण से रहित थे जिस प्रकार चन्द्रमा किरणों की माला से युक्त होता है उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त स्पष्ट वचनों की स्याद्वाद रचनारूप किरणों की माला से युक्त थे, वर्तमान चन्द्रमा कलङ्क से युक्त होने के कारण कलङ्की-अपवित्र कहलाता है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् कर्म कलङ्क से रहित होने के कारण पवित्र थे । ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मन को पवित्र करें-मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम भाव से मेरे मन को सदा दूर रक्खें ॥ ५ ॥

इतिचन्द्रप्रभजिन स्तवनम्

श्री सुविधिजिन स्तवनम्

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥ १ ॥

ज्ञानतेजसे आस्वादितं, अनुभूतं

एकान्तदृष्टित्यादि——उपजातिच्छन्द: । स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्वमित्याद्येकान्त: तस्य दृष्टि: तत्प्रतिपादकं दर्शनं तां प्रतिषेद्धुं शीलमस्येत्येकान्त दृष्टि प्रतिषेधि, किंतत्? तत्वं जीवादिवस्तु, कथंभूतं ? प्रमाणसिद्धं प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धस्वरूपं, कीदृशं तत्तत्वं यत्प्रमाणसिद्धमित्याह-तदित्यादि १स च विवक्षित: २असश्च अविवक्षितस्तदततौ तौ स्व,

---

१ सच्च क० असच्च क०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावौ यस्य तत्तदतत्स्वभावं विवक्षिता विवक्षित स्वभावमित्यर्थः, यतस्तदीदृशं तत्वं तत् एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि, केन तत्प्रतिपादित मित्याह-त्वया प्रणीतमिति-त्वया भगवता प्रणीतं कथितं, हे सुविधे ! शोभनो विधिर्विधानं क्रिया अनुष्ठानं यस्यासौ सुविधिरन्वर्था संज्ञा इयं वक्ष्म-तीर्थंकर देवस्य, केन कृत्वा तत्प्रणीत मित्याह–स्वधाम्ना स्वज्ञानतेजसा अनेन विशिष्टज्ञान पूर्वकत्वात् तद्वचनं प्रमाणमित्युक्तं, अन्येऽप्येवंविधं तत्वं जानन्ति ततस्तत्प्रणीतमित्यपि कस्मान्न भवतीत्याह—नेत्यादि–न एतत्तत्त्वं समालीढपदं समालीढ मास्वादितमनुभूतं पदं स्थानं स्वरूपं यस्य, कैः ? त्वदन्यैः त्वत्तः सुविधेरन्यैस्त्वदन्यैः त्वच्छासन बहिर्भूताः सुगतादय स्तैः ।। १ ।।

आगे सुविधि जिनेन्द्र ने जो उपदेश दिया है उसे दूसरे नहीं प्राप्त कर सके हैं यह कहते हैं-

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधि नाथ भगवन् ! (त्वया) आपके द्वारा (स्वधाम्ना) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रणीतं) प्रतिपादित (तत्वं) जीवादि पदार्थ (एकान्त दृष्टिप्रतिषेधि) एकान्त दर्शन का निषेध करने वाला है, (प्रमाणसिद्धं) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है तथा (तदतत्वस्वभावम्) तत् और अतत् स्वभाव को लिए है अर्थात् विधि निषेध रूप है। हे भगवन् (एतद्) यह तत्व (त्वदन्यैः) आपसे भिन्न सुगत आदि के द्वारा (समालीढ पदं न , अनुभूत स्थान वाला नहीं हैं सुगतादि के द्वारा ऐसा तत्व प्रतिपारित नहीं हो सका है।

भावार्थ—जिनका भाग्य अथवा क्रियाओं का अनुष्ठान उत्तम है वे सुविधिनाथ हैं। नवम तीर्थंकर का यह सुविधि नाम सार्थक है। आपका दूसरा नाम पुष्प दन्त भी है इस श्लोक में सुविधि नाम से सम्बोधित करते हुए नवमतीर्थंकर का स्तवन किया गया है। समन्तभद्र स्वामि कहते हैं कि हे सुविधि जिनेन्द्र ! आपने जिस तत्व का प्रतिपादन किया है वह एकान्त दृष्टि का निषेध करने वाला है। संसार का प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद्रूप होता है और पर रूप की अपेक्षा असद् रूप होता है परन्तु इस सापेक्ष कथन की उपेक्षा कर ऐसा कथन करना कि जिस प्रकार पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद् रूप है उसी प्रकार पर रूप की अपेक्षा भी सद्रूप है अर्थात् पदार्थ सद्रूप ही है अथवा असद्रूप ही हैं। दो विरोधी अन्तों धर्मों में से किसी एक अन्त धर्म को ही स्वीकृत करना एकान्त कहलाता है तथा विवक्षा भेद से दोनों को स्वीकृत करना अनेकान्त है। 'सत्ता सप्पडिवक्खा' सत्ता अपने प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी धर्म से सहित है, जो पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद्रूप है वह पर रूप की अपेक्षा असद्रूप हैं, जो सामान्य की अपेक्षा एक रूप हैं वह विशेष की अपेक्षा अनेक रूप है, जो द्रव्य की अपेक्षा नित्यरूप हैं वह पर्याय की अपेक्षा अनित्य रूप है। इस तरह पदार्थ तत्स्वरूप है और अतत्स्वरूस भी है। स्वरूप की अपेक्षा तत्स्वरूप हैं औंर पररूप की अपेक्षा अतत्स्वरूप है। पदार्थ का यह तत्स्वभाव और अतत्स्वभावपना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है अतः अबाधित है। सुविधि जिनेन्द्र ने इस तत्व का प्रतिपादन अपने केवलज्ञान रूप तेज के द्वारा किया है अर्थात् केवल ज्ञान के दिव्य आलोक में पदार्थ का अच्छी तरह अवलोकन कर उसका निरूपण किया है इसीलिये अवाधित है। हे भगवन् ! आपके सिवाय अन्य वक्ता इस तत्व को नहीं प्राप्त कर सके हैं क्योंकि वे सदेकान्त, असदेकान्त आदि एकान्त के गर्त में पतित हैं १

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथं तदेवंविधं तत्वं युक्त मित्याह--

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नात्यन्तमन्यत्व मनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।।२।।

न+ अत्यन्तम्+ अन्यत्वम् + अनन्यता।

तदेव चेत्यादि--तदेव जीवादि वस्तु स्याद्भवेत् स्वरूपादिचतुष्टयेन, तदेव च न स्यात्पररूपादिचतुष्टयेन । चकार उभयत्र परस्पर समुच्चयार्थः । कुतस्तत्तथेत्याह— तथा प्रतीतेः-तथा स्वरूप पररूपाभ्यां सदसद्रूपतया प्रतीतेः प्रमाणेनावभासनात्, तव सम्बन्धि तज्जीवादितत्वं कथञ्चिन्न सर्वात्मना । सदसदात्मकं विपरीतं कुतो न भवतीत्याहनेत्यादि नात्यन्तमन्यत्वं न सर्वथा भेदः, कस्य ? विधेः स्वरूपादिचतुष्टयेनास्तित्वस्य निषेधस्य च पररूपादिचतुष्टयेन नास्तित्वस्य च । कुतः ? शून्यदोषात् अस्तित्वस्य हि भावेभ्यः सर्वथा भेदे तेषामसत्व प्रसङ्गात् निराश्रयस्य चास्तित्वस्याप्यसंभवात् शून्यतादोषः, नास्तित्वस्य च ततोऽत्यन्तभेदे तेषां संकर प्रसङ्गात् तद्दोष इति तर्हि तयोः सर्वथाभेदोऽस्त्वित्यत्राह-अनन्यता च, नात्यन्तं विधेः निषेधस्य चेति पदघटना, कुतः ? शून्यदोषात्, भावप्रधानोऽयं निर्देशः शून्यदोषा दिति तथाहि विधिनिषेधयोरत्यन्तमनन्यतायां सर्वथाभेदेऽस्तित्वस्य चास्तित्वरूपानुषङ्गात् सकलशून्यता दोषः नास्तित्वस्य चास्तित्वरूपानुषङ्गाद्भावात् संकर व्यवस्थानिबन्धनस्याभावस्यासंभवात् सकलभावना मेकरूपताप्रसङ्गे तु सकलशून्यता दोषः २

इस प्रकार तत्व की विधि निषेधकता को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—हे सुविधि जिनेन्द्र (तव) आपका (तत्) वह तत्व (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव च स्यात्) तद्रूप ही है (च) और (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव न स्यात्) तद्रूप नहीं है क्योंकि (तथा प्रतीतेः) उस प्रकार की प्रतीति होती है । (विधेः) विधि (च) और (निषेधस्य) निषेध में (अत्यन्तं) सर्वथा (न अन्यत्वम्) न भिन्नता है (च) और (न अनन्यता) न अभिन्नता है क्योंकि ऐसा मानने से (शून्य दोषात्) शून्यता का दोष आता है ।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा होता है इन्हें जिनागम में स्वचतुष्टय और पर चतुष्टय कहा जाता है । स्वचतुष्टय की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ तद्रूप जिसरूप कहा गया है उस रूप होता है और पर चतुष्टय की अपेक्षा अतद्रूप–जिस रूप कहा गया है उस रूप न होकर उससे भिन्न रूप होता है । जैसे 'मनुष्य है' यहां मनुष्य अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा मनुष्य रूप है और देवादिसम्बन्धी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा मनुष्य रूप नहीं है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में स्वचतुष्टय की अपेक्षा विधि और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों रूप बनते हैं परन्तु इस विधि और निषेध में न तो सर्वथा भिन्नता है और न सर्वथा अभिन्नता है क्योंकि सर्वथा भिन्नता और अभिन्नता मानने पर शून्यता का दोष आता है। विधि-अस्तित्व को पदार्थ से सर्वथा भिन्न मानने में यह आपत्ति है कि अस्तित्व गुण है और गुण किसी पदार्थ के आधार पर ही रहता है विना आधार के गुण का अस्तित्व नहीं रह सकता इस प्रकार पदार्थ के विना अस्तित्वगुण का अभाव होता है और अस्तित्व गुण के विना नास्तित्व रूप हो जाने से पदार्थ का भी अभाव होता है फल स्वरूप गुण और गुणी दोनों का अभाव होने से शून्यता दोष का प्रसङ्ग आता है इसी प्रकार निषेध—नास्तित्व को पदार्थ से सर्वथा भिन्न मानने पर सब पदार्थ सब रूप हो जावेंगे और इस तरह संकर दोष की आपत्ति आती है। इन दोषों से वचने के लिये यदि विधि-और निषेध को पदार्थ से सर्वथा अभिन्न स्वीकृत किया जाता है तब भी उक्त दोष आते ही हैं क्योंकि सर्वथा अभेद मानने पर अस्तित्व नास्तित्व रूप हो जावेग, और इस दशा में सर्व शून्यता का दोष आता है तथा नास्तित्व-अस्तित्वरुप हो जावेगा इसलिये संकर दोष भी आता है। हे सुविधि जिनेन्द्र ! इन दोषों से बचने के लिये आपने पदार्थ का स्वरुप अनेकान्त शैली से विधि निषेध तथा भेद और अभेद दोनों रुप किया है ॥ २ ॥

एवं भावाभावरूपतया तदतत्स्वभावं तत्वं प्रदर्श्य नित्यानित्यरूपतया तदतत्स्वभावं तत्प्रदर्शयितुमाह—

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्ति सिद्धेः।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग निमित्त नैमित्तिकयोगतस्ते ॥३॥

नित्यमित्यादि — नित्यं जीवादि वस्तु, कुतः ? तदेवेदमिति प्रतीतेः-तदेव यद्बालाद्यवस्थायां प्रतिपन्नं देवदत्तादि वस्तु तदेवेदं युवाद्यवस्थायामिति प्रतीतेः प्रत्यभिज्ञानात्। तर्हि नित्यमेव तदस्त्वित्यत्राह—न नित्यं कथञ्चित् विनाशि, कुतः ? अन्यप्रतिपत्ति सिद्धेः बालाद्यवस्थातो युवाद्यवस्था अन्येति येयं प्रतिपत्ति स्तस्याः सिद्धिः निर्बाधत्वेन निर्णीतिः। नन्वेकस्य वस्तुतो भावाभावात्मकत्वं नित्यानित्यात्मकत्वं च विरुद्ध मित्यत्राह—न तद्विरुद्धं तदनन्तरोक्तं भावाभावाद्यात्मकत्वं विरुद्धमनुपपन्नं न, कुत इत्याह—बहिरित्यादि, अङ्गशब्दः प्रत्येकं संबध्यते बहिरङ्ग मन्तरङ्गं च तच्च तन्निमित्तं च बहिरङ्गं निमित्तं सहकारिकारणं, अन्तरङ्गनिमित्त मुपादान कारणं, निमित्ताद् भवं नैमित्तिकं कार्यं, बहिरन्तरङ्ग निमित्तश्च नैमित्तिकं च ताभ्यां योगः सम्बन्धस्तस्मात्ततः, ते तव जिनस्य, न तद्विरुद्धं, तथाहि स्वद्रव्यलक्षणेनान्तरङ्गनिमित्तेन स्वक्षेत्रादिलक्षणेन बहिरंगनिमित्तेन च योगादस्तित्वात्मकं, परद्रव्यादि लक्षणेन च बहिरंगनिमित्तेन योगान्नास्तित्वात्मकत्वमेकस्यापि न विरुद्धं तथा द्रव्यलक्षणान्तरंगनिमित्तयोगान्नित्यत्वं क्षेत्रभेदादिलक्षणबहिरंग निमित्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगात्कार्यंलक्षणनैमित्तिकयोगाच्चानित्यत्व मे कस्या पि वस्तुनो न विरुद्धम् ॥ ३ ॥

अब पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवत् ! (इदं तदेव) यह वही है (इति) इस प्रकार (प्रतीतेः) प्रतीति होने से तत्व (नित्यं) है और (अन्य प्रतिपत्तिसिद्धेः) यह अन्य है इस प्रकार प्रतीति होने से (नित्यं न) नित्य नहीं है तथा (ते) आपके मत में बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतः) बहिरङ्ग अन्तरङ्ग कारण और कार्य के योग से (तद्) वह नित्यानित्यात्म तत्व (विरुद्धं न) विरुद्ध भी नहीं है।

भावार्थ —'यह वही है जिसे पहले देखा था' इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृति प्रमाण के योग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं प्रत्यभिज्ञान कालक्रम से होनेवाली पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं में एक रूपता को सिद्ध करता है। मनुष्य की बालादि वृद्धान्त अवस्थाओं में यह वही है, यह वही है इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता रहता है इससे उन सबमें एक रूपता स्थापित करना प्रत्यभिज्ञान का काम है। जो पदार्थ समस्त पर्यायों में एक रूपता को स्थापित करता है वह नित्य होता है तथा जो बालक आदि अवस्थाओं में भेद होनेके कारण 'यह वह नहीं है' इस प्रकार प्रतीति होने से विभिन्नता को स्थापित करता है वह अनित्य होता है। मनुष्य, मनुष्यत्व सामान्य की अपेक्षा बालक से लेकर वृद्ध तक की समस्त अवस्थाओं में एक होनेसे नित्य है परन्तु बालक आदि अवस्थाओं में भेद होजाने के कारण वही अनेक होने से अनित्य हो जाता है माता अपने जिस पुत्र को शिशु अवस्था में उरस्थल से लगाती है उसी पुत्र को तरुण होने पर उरःस्थल से नहीं लगाती। यद्यपि वह समझती है यह वही पुत्र है जो पहले शिशु था तथापि साथ में यह भी समझती है कि इस पुत्र की यह तरुण अवस्था शिशु अवस्था से भिन्न है जिस प्रकार इसकी शिशु अवस्था निर्विकार थी उस प्रकार तरुण अवस्था निर्विकार नहीं है। पदार्थ का यह नित्यानित्यपना विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारण तथा उनके द्वारा होने वाले नैमित्तिक—कार्य के योग से पदार्थ में नित्यानित्यपना सिद्ध है। कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है और कारण बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग कारण के भेद से दो प्रकार का होता है। बहिरङ्ग कारण सहकारी कारण कहलाता है जैसे कि घट की उत्पत्ति में दण्ड चक्र कुलाल आदि। और अन्तरङ्ग कारण उपादान कारण कहलाता है जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी। उपादान कारण स्वयं कार्य रूप परिणत है इसलिये यह द्रव्य अंश को ग्रहण करता है और बहिरङ्ग कारण स्वयं कार्य रूप परिणत नहीं होता इसलिये वह क्षेत्रादि अंश को ग्रहण करता है। द्रव्य अंश अतीत—अनागत पर्यायों में व्यापक होने से पदार्थ की नित्यता का बोध कराता है और क्षेत्रादि अंश मात्र वर्तमान पर्याय में व्याप्त होने से पदार्थ की अनित्यता का बोध कराता है ॥ ३ ॥

ननु यद्यप्यनेकान्तात्मकं वस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्धस्वरूपं तथाप्यागमा देकान्त स्वरूपं तत् सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकमित्यादि—पदवाक्यात्मको ह्यागमः, पदात्मकं च वाक्यं, तत्र पदमेव तावच्चिन्त्यते, पदस्य वाच्यमभिधेय मनेक पर्यायात्मकं वस्तु एकं च विवक्षितैक सामान्यात्मकं च, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु वाच्यमित्यर्थः । यद्यनेकमेव तदभिधेयं स्यात्तदा तत्र संकेतासंभवादनभिधेय मेव तत् स्यात् । यत्र हि संकेतः कृतस्तदन्यत् यत्र च शब्दे व्यवहारः क्रियते तदन्यत् । असंकेतितं न च असंकेतित मभिधातुं शक्यमति प्रसङ्गात् । यदि पुनरेकमेव सामान्यमभिधेयं तत्स्यात् तदा एकस्मिन् विशेषपदस्य प्रवृत्तिर्नस्यात् । कथं पुनरेकमनेकं च पदस्य वाच्यमित्यत्राह—प्रकृत्येति—स्वभावेनेति । अत्र दृष्टान्तमाह—वृक्षा इति प्रत्ययवदिति—एते वृक्षा इति योऽयं प्रत्ययस्तस्येव तद्वत् । अत्र हि प्रत्यये वृक्षत्वसामान्यं धवखदिरादयश्च विशेषाः प्रतिभान्तीति सामान्यं विशेषविषयत्वं यथा तथा पदेऽपीति । यदि वा पदस्येति । कोऽर्थः ? प्रत्ययवत्प्रकृत्या—प्रत्ययवती प्रकृतिः पदमित्यभिधानात् । एतदेव व्यक्तिनिष्ठतया दर्शयति—वृक्षा इति । ननु यद्यनेकमेकं च पदस्य वाच्यं स्यात्तर्ह्यस्तीत्युक्ते नास्तित्वस्यापि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् पदान्तर प्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । यदि वा स्वरूपेणेव पररूपेणाप्यस्तित्वं स्यात् तदा नास्तीत्युक्ते नास्तित्वस्यापि प्रतिपत्तिः स्यात्, पररूपेणेव स्वरूपेणापि नास्तित्वं स्यादित्याशङ्क्याह—आकाङ्क्षिण इत्यादि । अस्तित्वादौ प्रतिपादितेऽपि नास्तित्वादौ या आकाङ्क्षा सा विद्यते यस्य पुरुषस्य तस्याकाङ्क्षिणः स्यादिति योऽयं निपातः सोऽयवादो बाधको, वै स्फुटं, क्वापवादो भवति ? अनियमे यथा स्वरूपेण तथा पररूपेणाप्यस्तित्वं, यथा वा पररूपेण तथा स्वरूपेणापि नास्तित्वमिति यो यमनियमस्तस्मिन् । कथंभूते ? गुणानपेक्षे अस्तीत्युक्ते अस्तित्वं प्रधान भूतं नास्तित्वं गुणभूतं, नास्तीत्युक्ते तु नास्तित्वं प्रधान भूतमस्तित्वं गुणभूतं, तस्मिन् गुणे न विद्यतेऽपेक्षा यस्यासौ गुणानपेक्षस्तस्मिन् ॥४॥

आगे आगम से भी वस्तु की अनेकान्तात्मकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् (पदस्य) सुबन्त तिङन्त रूप शब्द का (वाच्यं) अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय (प्रकृत्या) स्वभाव से ही (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) वृक्ष इस ज्ञान की तरह (अनेकं) अनेक (च) और (एकं) एक दोनों रूप होता है। (आकाङ्क्षिणः) विरोधी धर्म के प्रति पादन की इच्छा रखने वाले पुरुष के (स्यात् इति निपातः) कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक स्यात् यह शब्द (गुणानपेक्षे) गौण अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले (नियमे) सर्वथा एकान्त रूप कथन में (वै) निश्चय से (अपवादः) बाधक है।

भावार्थ—व्याकरण में सुबन्त और तिङन्त शब्दों को पद कहा है। पद के अर्थ का विचार करते हुए साहित्य में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीन शक्तियों का निरूपण किया गया है। अभिधा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति के द्वारा शब्द के संकेतित अर्थका ज्ञान होता है और संकेत, 'संकेतो गृह्यते जातौ गुण द्रव्य क्रिया सु च' इस उल्लेख के अनुसार जाति गुण द्रव्य और क्रिया में होता है। जाति का अर्थ सामान्य होता है जैसे कि गोत्र आदि। प्रत्येक गाय का संकेत संभव नहीं है इसलिये सामान्य रूप से जाति में शब्द का संकेत स्वीकृत किया गया है और चूंकि लाल काली सफेद आदि विशिष्ट गायें गोत्वरूप सामान्य जाति से अविनाभूत रहतो है इसलिये उसी संकेत से उनका भी अर्थ-ग्रहण हो जाता है। इसतरह जब सामान्य-जाति का संकेत ग्रह होता है तब पद का वाच्य-अभिधेय अर्थ एक होता है और जब उस सामान्य से अविनाभूत विशिष्ट-व्यक्ति विशेष का संकेत ग्रह होता है तब पद का वाच्य अनेक होता है। इस एक और अनेक अर्थ को प्रतिपादन करना पद की प्रकृति है स्वभाव है। जैनागम में भी पदार्थ को द्रव्य और पर्याय रूप कहा गया है। द्रव्य सामान्य को विषय करता है और पर्याय विशेष को। जिस समय पद द्रव्य को विषय करता है उस समय उसका वाच्य एक होता है और जब पर्याय को विषय करता है तब उसका वाच्य अनेक होता है। यहां समन्तभद्रस्वामी ने 'वृक्षाः' इस पदका उदाहरण दिया है। जब वृक्षत्व सामान्य की ओर दृष्टि रहती है तब वृक्ष पद का वाच्य एक होता है और जब धव, खदिर, पलाश आदि विशिष्ट वृक्षों की ओर दृष्टि रहती है तब वृक्ष पद का वाच्य अनेक होता है। अथवा वृक्ष यह एक प्रकृति है शब्द का मूल रूप है अभिधा शक्ति के द्वारा यह वृक्षत्व सामान्य का वाचक है परन्तु जब इसके आगे बहुवचन का जस् प्रत्यय लगा देते हैं तो वही वृक्ष शब्द जस् प्रत्यय से युक्त प्रकृति के द्वारा अनेक वृक्षों का वाचक हो जाता है। वृक्ष शब्द का जस् प्रत्यय के साथ 'वृक्षाः' ऐसा रूप होता है जो अनेकत्व विशिष्ट वृक्ष का वाचक होता है।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पद का वाच्य एक भी है और अनेक भी है परन्तु ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी होने पर भी एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं क्यों कि एकत्व धर्म द्रव्य अथवा सामान्य से सम्बद्ध है और अनेकत्व धर्म पर्याय अथवा विशेष से सम्बद्ध है। द्रव्य पर्याय को छोड़कर नहीं रह सकता और पर्याय द्रव्य को छोड़ कर नहीं रह सकती इसी तरह सामान्य विशेष को छोड़कर नहीं रह सकता और विशेष सामान्य को छोड़कर नहीं रह सकता। दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस दशा में एकान्त रूप से पदार्थ को किसी एक धर्म रूप कहना असंगत होता है। क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ एक है और पर्याय की अपेक्षा अनेक हैं इस सापेक्ष वाद का आश्रय लेकर जो वक्ता पदार्थ के किसी धर्म का विवेचन करता है वह उसके विरुद्ध धर्म की भी आकांक्षा रखता है और उसकी इस आकांक्षा को प्रकट करने वाला 'स्यात्' शब्द है। व्याकरण में स्यात् शब्द को निपात सञ्ज्ञक अव्यय कहा गया है। यह ठीक है कि वक्ता दो विरोधी धर्मों को एक साथ कहते समय एक धर्म को मुख्यता देता है और दूसरे धर्म को गौणता-अप्रधानता। जब वक्ता गौणधर्म की अपेक्षा न रख सर्वथा मुख्य धर्म का ही प्रतिपादन करने लगता है तब 'स्यात्' यह निपात उसके उस कथन में प्रतिरोध करता है। वह कहता है कि पदार्थ कथंचित् एक है और कथंचित् अनेक है ॥ ४ ॥

एवं पदाभिधेय स्वरूपं निरुप्येदानीं वाक्याभिधेयस्वरुपं निरुपयन्नाह-

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम् ।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणेत्यादि–गुणोऽविवक्षितो धर्मः प्रधानो विवक्षितो धर्मस्तावर्थावभिधेयौ यस्य तत्तथोक्तं, इदं पदात्मर्थं कतया प्रतीयमानं वाक्यं हि स्फुटं, पदानां हि गुणप्रधानार्थं भावाविरोधे वाक्यानामपि तन्मयानां तद्भावाविरोधो भवत्येव । कस्य तद्वाक्यं ? जिनस्य ते तव द्विषतां प्रतिकूलानां सुगतादीनां तद् वाक्यमपथ्यमनिष्टं यत ईदृशं सकलैकान्त वादिवाक्यातिशापि भवदीयं वाक्यं ततोऽभिवन्द्य मभिवन्दनीयं, किं तत् ? पादपद्मं पादावेव पद्मं पादपद्मं, कस्य ? तव भवतः साधोः सकलकर्मापायसाधनशीलस्य, केषामभिवन्द्यं ? जगदीश्वराणां जगतामीश्वराइन्द्रचक्रवर्तिधरणेन्द्रादय स्तेषां न केवलं किन्तु ममापि समन्तभद्रस्वामिनोऽपि ।।५।।

इस प्रकार पद के अभिधेय का स्वरूप कह कर अब वाक्य के अभिधेय का स्वरूप कहते हैं––

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (जिनस्य) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले (ते) आपका (इदम्) यह जो (गुणप्रधानार्थम्) गौण और प्रधान अर्थ से युक्त (वाक्यं) वाक्य है (तद्) वह (हि) निश्चय से (द्विषताम्) द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिये (अपथ्य) अनिष्ट है (ततः) इसलिये (साधोः) समस्त कर्मों का क्षय करने के लिये प्रयत्न शील (तव) आपके (पादपद्मं) चरण कमल (ज दीश्वराणां) तीनों जगत् के स्वामी इन्द्र चक्रवर्ती तथा घरणेन्द्र के और (ममापि) मुझ समन्त भद्र के भी (अभिवन्द्यं) वन्दनीय हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने स्यात्पद से चिह्नित जो उपदेश दिया है वह गौण और प्रधान भाव को लिये हुए हैं । वक्ता की इच्छा वश कमी विधि-पक्ष मुख्य होता है और कमी निषेध पक्ष गौण होता है । कमी निषेध पक्ष मुख्य होता है और कभी विधि पक्ष गौण होता है । ववता की इच्छा पात्र की योग्यतानुसार प्रसरित होती है । गौण और प्रधान भाव से युक्त आपका यह उपदेश समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है परन्तु इसके बिपरीत सर्वथा एकान्त वाद का निरूपण करने वाले सुगत. सांख्य तथा योग आदि का उपदेश इससे विपरीत है—सर्वजन हितकारी नहीं हैं । आपके उपदेश की विशेषता से प्रभावित होकर ही तीनों जगत् के स्वामी इन्द्र चक्रवर्ती आदि आपके चरण कमलों की वन्दना करते हैं और मैं भी वन्दना करता हूं ।। ५ ।।

इति सुविधि जिन स्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री शीतल जिनस्तवनम्

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् १

न शीतला इत्यादि—वंशस्थछन्दः । न शीतलाः न संसारसंतापदुःखापहारकाः, के ते इत्याह—चन्दनेत्यादि चन्दनं च चन्द्ररश्मयश्च, न गाङ्गमम्भः शीतलं गङ्गाया इदं गाङ्गमम्भः पानीयं, न च नैव, हारयष्टयो मुक्ताफलमालाः शीतलाः । अत्र वैधर्म्योदाहरणमाहयथेत्यादियेन संसार संताप दुःखापनोदप्रकारेण शिशिराः शीतलाः प्रह्लादनकराः, केषां? विपश्चितां हेयोपादेयतत्वविदां के ? अनघवाक्यरश्मयः वाक्यान्येव, रश्मयो यथावदर्थस्वरूपप्रकाशकत्वादनधा अनवद्यास्ते च ते वाक्यरश्मयश्च, कस्य ? मुनेस्ते मुनेः प्रत्यक्षविदः ते तव, यदि वा मुने इति सम्बोधनं तस्य अनधं इति विशेषणं हे मुने शीतल भगवत्। १अनद्याः २अपापाः कुतस्तेषां ते तथा शीतला इत्याह—शमाम्बुगर्भा इति-शम उपशमो रागद्वेषयोरभावः स एवाम्बुजलं तद्गर्भे येषां ते तथोक्ताः ।। १ ।।

अब भगवान् के वचनों की शीतलता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (मुनेः ते) चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले आप शीतल जिनेन्द्र की (शमाम्बुगर्भाः शान्तिरुप जल से मिश्रित (अनघवाक्यरश्मयः) निर्दोष वचन रुप किरणें (विपश्चितां) हेयोपादेय तत्व को जानने वाले विद्वानो के लिये (यथा) जिस प्रकार (शिशिराः शीतल हैं संसार संताप को नष्ट कर शान्ति पहुँचाने वाली हैं तथा) उस प्रकार (चन्दनचन्द्ररश्मयः) चन्दन और चन्द्रमा की किरणें (न शीतलाः) शीतल नहीं हैं (गाङ्गमम्भः) गङ्गा नदी का जल (न शीतलं) शीतल नहीं है (च) ओर (हारयष्टयो न शीतलाः) मोतियों की मालाएं शीतल नहीं हैं।

भावार्थ—संसार में दुःख का कारण अज्ञान तथा रागद्वेषादि विकारी भाव हैं। हे शीतल जिनेन्द्र ! आप मुनि हैं- प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं—सर्वज्ञ है अतः अज्ञान मूलक दुःख आपके नहीं हैं इसी प्रकार आप वीतराग हैं अतः रागद्वेषादि विकारी भाव मूलक दुःख भी आपके नहीं है। सर्वज्ञ होने से आपके वचन भी किरणों के समान यथार्थ वस्तु तत्व को प्रकाशित करने वाले हैं साथ ही उनमें राग द्वेष को दूर करने का उपदेश मिला रहता है इसलिये शान्तिरुप जल से युक्त हैं। आपके ऐसे निर्दोष वचनों को सुन कर विवेकी जनों को जो शान्ति प्राप्त होती है-जो आह्लाद उत्पन्न होता है वह चन्दन और चन्द्रमा

१ अनघ ख१ २ अपाप ख०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की किरणों से, गङ्गा नदी के जल से तथा मोतियों की मालाओं से प्राप्त नहीं होता क्योंकि ये सब मात्र शारीरिक संताप को नष्ट करने वाले हैं और आपके वचन मानसिक संताप को नष्ट करने वाले हैं। यहां संस्कृत टीकाकार ने 'मुनेः' के स्थान पर 'मुने' इस पाठ की भी सूचना दी है तथा 'अनघ' को वाक्य रश्मि का विशेषण न बनाकर मुने का विशेषण बनाया है इस पक्ष में 'हे अनघ मुने'! इस पदका हे निर्दोष शीतल जिनेन्द्र! यह अर्थ होता है ॥ १ ॥

यस्य भगवतः ईदृशाः वाक्यरश्मयः स किं कृतवानित्याह—

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥२॥

व्यदिध्यपः = शान्त (किया)

सुखाभिलाषेत्यादि—व्यदिध्यपस्त्वं विध्यापितवान् भवान, किं तत्? मनः कथंभूतं? सुखेत्यादिइन्द्रादिसुखं ममास्त्विति वाञ्छा सुखाभिलाषः स एवाचलः संताप हेतुत्वात् तेन दाहश्चातुर्गतिकं दुःखं संतापश्च तेन मूर्च्छितं मोहितं हेयोपादेयविवेकविमुखीकृतं मनः आत्मस्वरूपं निजमात्मीयं, कैस्तद्व्यदिध्यय इत्याह-ज्ञानेत्यादि-ज्ञानेन निर्वृत्तानि ज्ञानमयानि ज्ञानस्वभावानि ज्ञानमित्युपलक्षणं दर्शनचारित्रयोः तानि च तानि अमृतानि च तान्येवाम्बूनि पानीयानि तैः, कैरिव कः कमित्याह—विषेत्यादि–विषेण दाहः संतापस्तेन मोहितं मूर्च्छितं स्वविग्रहं स्वशरीरं यथा पद्वत् व्यदिध्यपत्, कोऽसौ? भिषक् वैद्यः, मन्त्रगुणैर्मन्त्रस्य गुणा अनुस्मरणोच्चारणमात्रेण विषापहरणे वीर्यविशेषास्तैः ॥ २ ॥

आगे जिन भगवान् के वचन शीतल हैं उन्होंने क्या किया यह बतलाते हैं–

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (विषदाहमोहितं) विष रूपी दाह से मूर्च्छित (स्वविग्रहं) अपने शरीर को (भिषक्) वैद्य (मन्त्रगुणैः) मन्त्र के गुणों के द्वारा शान्त करता है उसी प्रकार हे भगवन्! (त्वं) आपने (सुखाभिलाषानल दाहमूर्च्छितं) वैषयिक सुखों की अभिलाषा रूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित (निजं) अपने (मनः) मन को (ज्ञानमयामृताम्बुभिः) ज्ञानामृत रूप जल के द्वारा (व्यदिध्यपः) शान्त किया था।

भावार्थ—वैषयिक सुख की अभिलाषा अग्नि की दाह के समान इस जीव को निरन्तर जला रही है उसकी शान्ति इस ज्ञान रूप अमृत से ही होती है कि सुख आत्मा का गुण है वह आत्मा में ही प्रकट होता है विषय सामग्री में नहीं इसलिये विषय सामग्री के पीछे न पड़ कर आत्मा में ही उसे प्रकट करना चाहिये'। हे भगवन्! जिस प्रकार कोई वैद्य विष की दाह से मूर्च्छित अपने शरीर को मन्त्र के बार २ स्मरण तथा उच्चारण रूप गुणों के द्वारा शान्त करता है उसी प्रकार आपने वैषयिक सुख की चाह रूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित अपने मन को ज्ञानामृत रूप बल के द्वारा शान्त किया है ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ननु यथा भगवता सन्मार्गानुष्ठानेनात्मयीं मन उपशमितसकलसंतापतया परम प्रशान्ति नीतं तथा सकलप्रजा अपि तां नेष्यन्तीत्याशङ्क्याह—

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ ३ ॥

स्वजीवित इत्यादि—स्वस्यात्मनो जीवितं वर्षशतादिपरिमितं तत्र या तृष्णा अभिलाषः कामसुखे च स्त्र्याद्यभिलाषः कामस्तस्मात्सुखं कामसुखं विषयप्रतीतिरित्यर्थः, तत्र च या तृष्णा तया दिवा दिवसे यः श्रमः सेवादिक्लेशस्तेनार्ताः पीडिताः खिन्नाः अतो दिवसे तासां सन्मार्गानुष्ठानं नास्ति । रात्रौ तर्हि भविष्यतीत्याह—निशीत्यादि-निशि रात्रौ शेरते स्वपन्ति प्रजाः । कस्य तर्हि निराकुलं सन्मार्गानुष्ठानमित्याह--त्वमित्यादि--त्वमार्य शीतल भगवान्, नक्तंदिवमहोरात्रं अप्रमत्तवान् अप्रमादवान् अजागरेव जागरितवानेव नष्ट-निद्र एव ? क्व ? आत्मविशुद्धवर्त्मनि आत्मा विशेषेण शुद्धो निखिलकर्मरहितो यस्माद्भवति तदात्मविशुद्धं यदि वा आत्मन्येव सम्बन्धि बुद्धयावरणमोह विगमेन शुद्धं तच्च तद्वर्त्म च सम्यग्दर्शनादिलक्षणो मोक्षमार्गस्तस्मिन् ॥३॥

आगे विशुद्धता के मार्ग में आप ही जागृत—सावधान रहे यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रजाः) लौकिक जन (स्वजीविते) अपने जीवन (च) और (कामसुखे) स्त्री आदि की अभिलाषा से उत्पन्न काम सुख की (तृष्णया) तृष्णा से (दिवा) दिन में (श्रमार्ताः) सेवा-कृषि आदि के श्रम से दुखी रहते हैं और (निशि) रात्रि में (शेरते) सो जाते हैं परन्तु (हे आर्य) हे पूज्य शीतल जिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (नक्तंदिवम्) रात दिन (अप्रमत्तवान्) प्रमाद रहित हो (आत्मविशुद्ध वर्त्मनि) आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शनादिरूपमार्ग में (अजागः एव) जागते ही रहे है।

भावार्थ— सांसारिक जीवों से शीतल नाथ भगवान् की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि हे आर्य ! हे पूज्य ! सांसारिक प्राणी सर्व प्रथम इस बात की इच्छा रखते हैं कि हमारा जीवन सुरक्षित रहे—हम पूर्ण आयु पर्यन्त जीवित रहे तदनन्तर स्त्री आदि काम सुख की चाह में निरन्तर निमग्न रहते हैं इन सब की पूर्ति के लिये वे दिन में सेवा कृषि शिल्प वाणिज्य आदि का श्रम करते हैं और उस श्रम के कारण दुःखी होकर रात्रि में शयन करते हैं अर्थात् दिन और रात के लम्बे समय में उन्हें आत्म विशुद्धि का अवसर ही प्राप्त नहीं होता परन्तु आप प्रमाद रहित होकर आत्म विशुद्धि के मार्ग में रातदिन निरन्तर जागृत ही रहे हैं गृहस्थ अवस्था में यद्यपि सांसारिक कार्य आपने किये हैं तथापि सम्यग्दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की अभूतपूर्व महिमा से आप उन सांसारिक कार्यों में पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त रहे हैं और मुनि अवस्था में तो निरन्तर जागरूक रहे ही हैं उसी के फल स्वरूप आप कर्ममल कलङ्क से निर्मुक्त कर आत्मा को विशुद्ध—अत्यन्त निर्मल बना सके हैं ।। ३ ।।

तथा तृष्णाभिभूताः प्राणिनोऽन्यदपि कार्यं कुर्वन्तीत्याह—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ।।४।।

अपत्येत्यादि—अपत्यानि च पुत्रादीनि वित्तानि च सुवर्णादीनि उत्तरलोकश्च उत्तर उत्कृष्टो लोकोऽन्यजन्म परलोक इत्यर्थः तेषु तृष्णा आकांक्षा तया तपस्विनोऽग्निहोत्रादयः कर्मवराकाः प्राणिनो व्रतिनो वा केचन मीमांसक शैवादयः कर्माग्निहोत्रादिकं कुर्वते भवान् पुनः शीतलतीर्थंकरदेवः जन्मजराजिहासया जन्म च जरा च तयोर्जिहासा त्यक्तुमिच्छा तया त्रयीं प्रवृत्तिं सम्यग्दर्शनज्ञानज्ञानचारित्रलक्षणामप्रशस्तमनोवाक्कायलक्षणां वा अवारुणत् विरुद्धवान् । कथंभूतः ? समधीः सर्वप्राणिषु तुल्या उपकारत्वेन प्रवृत्ता धीर्बुद्धिर्यस्य सः ।। ४ ।।

आगे अन्य प्राणियों और आपकी प्रवृत्ति में विशेषता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(केचन) कितने ही (तपस्विनः) अग्नि होतृ आदि, दयनीय प्राणी अथवा व्रती जन (अपत्यवित्तोत्तरलोक तृष्णया) सन्तान, धन तथा उत्तरलोक—परलोक या उत्कृष्टलोक की तृष्णा से (कर्म) अग्निहोम आदि कार्य (कुर्वते) करते हैं (पुनः) किन्तु (भवान्) आपने (समधीः) सम बुद्धि होकर (जन्मजराजिहासया) जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से (त्रयीं प्रवृत्तिं) मन वचन काय की प्रवृत्ति को (अवारुणत्) रोका है अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भेदरत्नत्रय को दूर कर शुद्धआत्म स्वरूप की लीनता रूप अभेद रत्नत्रय को अङ्गीकृत किया है ।

भावार्थ—संसार में मीमांसक शैव आदि विभिन्न मतावलम्बी प्राणी अपनी अपनी आस्था के अनुसार तपश्चरण करते हुए यज्ञ आदि नाना प्रकार के कार्य करते हैं परन्तु उन कार्यों को करते समय उनमें किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें सन्तान की प्राप्ति हो, किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें धनकी प्राप्ति हो और किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें स्वर्ग आदिक उत्तम परलोक की प्राप्ति हो इसतरह सांसारिक विषय सामग्री की इच्छा रखते हुए अपने तपश्चरण को व्यर्थ कर देते हैं परन्तु हे शीतल जिनेन्द्र ! आप समधी हैं—आपका विवेक मोह—मिथ्यात्व और क्षोभ—रागद्वेष से रहित होने के कारण [1]सम है इसलिये आप संतान धन तथा स्वर्गादि की आकांक्षा न कर जन्म जरा और मरण को नष्ट करने

१ 'मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो' प्रवचनसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की इच्छा रखते हैं—आप सदा यही चाहते रहे है कि हम जन्म जरा और मरण के दुःखों से बच कर शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त हों। इसी भावना से आपने मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोक कर योग निरोध किया है अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप भेदरत्नत्रय की प्रवृत्ति को छोड़ शुद्ध आत्मस्वरूप की लीनता रूप अभेदरत्नत्रय को धारण किया है ॥ ४ ॥

ननु भगवता तुल्या हरिहरादयोऽपि भविष्यन्तीत्यशङ्कयाह—

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥५॥

त्वमित्यादि—त्वं भगवान् उत्तमज्योति रुत्तम मुत्कृष्टं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्य, पुनरपि कथंभूतः ? अजः न जायते इत्यजोऽपुनर्भवः संसारातीतः, निर्वृतः सुखीभूतः, क्व ते प्रसिद्धा हरिहर हिरण्यगर्भादियः, परे भवतोऽन्ये क्व उभयत्र क्वेत्यनेन महदन्तरं सूच्यते। किंविशिष्टास्ते ? बुद्धिलवोद्धवक्षताः बुद्धेः सकलविषयाया लवो लेशस्तेन उद्धवो गर्वो दर्पस्तेन क्षता नाशिताः संसारसरित्क्लेशपातिताः, यत एवं ततस्तस्मात् स्वनिःश्रेयसभावनापरैः स्वस्यात्मनो निःश्रेयसं निर्वाणं तस्य भावना रत्नत्रयाभ्यासः तस्यां परास्तन्निष्ठास्तैः इत्थंभूतैः बुधप्रवेकैः बुधानां प्रवेकाः श्रेष्ठाः प्रधानाः गणधरदेवादयस्तैः, हे जिन ! कर्मारिविनाशन ! शीतल ! शीतलाभिधान ! ईड्यसे स्तूयसे ॥ ५ ॥

आगे हरिहरादिक भी आपके तुल्य हैं ऐसी आशङ्का कर उसका समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे शीतल जिन) हे शीतल जिनेन्द्र ! (उत्तमज्योतिः) केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट ज्योति से सहित. (अजः) पुनर्जन्म से रहित और (निर्वृतः) सुखी भूत (त्वम्) आप (क्व कहां और (बुद्धिलवोद्धवक्षताः) ज्ञान के लेशमात्र से उत्पन्न गर्व से नष्ट (ते परे) वे हरि हर हिरण्यगर्भ आदि अन्य देवता (क्व) कहां ? दोनों में महान् अन्तर है (ततः) इसीलिये (स्वनिःश्रेयसभावनापरैः) आत्मकल्याण की भावना में तत्पर (बुधप्रवेकैः) श्रेष्ठविद्वानों—गणधरादिक श्रेष्ठ ज्ञानियों के द्वारा (ईड्यसे) आप स्तुत हो रहे हैं—आपकी स्तुति की जा रही है।

भावार्थ—संसार के अन्य देवताओं से शीतल नाथ जिनेन्द्र की विशेषता बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! आप में और उनमें बड़ा अन्तर हैं क्योंकि आप उत्कृष्ट केवलज्ञान रूप ज्योति से युक्त हैं—लोक अलोक को जानने वाले ज्ञानगुण के चरम विकास से सहित हैं और वे ज्ञान के अल्पतम अंश से उत्पन्न अहंकार से नष्ट हो रहे हैं, आप अजन्मा हैं—आपको आगे जन्म धारण न कर अनन्त काल के लिये मोक्षस्थान में विराजमान रहना है और वे सजन्मा हैं—उन्हें अनेक जन्म धारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना है तथा आप निर्वृत हैं—सांसारिक सुखों की इच्छा से रहित होनेके कारण सुखीभूत हैं—अनन्त सुख से सम्पन्न हैं और वे सांसारिक सुखों की चाह में निमग्न होने से–स्त्री तथा चक्र आदि के संग्रह में संलग्न रहने से दुखी हैं। इस महान् अन्तर के कारण आत्मकल्याण की भावना रखने वाले श्रेष्ठ ज्ञानी जन सदा आपकी ही स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

इति शीतल जिनस्तवनम्

श्री श्रेयोजिनस्तवनम्

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ १ ॥

श्रेयानित्यादि—उपजातिच्छन्दः। श्रेयानिति संज्ञा इयमेकादशतीर्थंकरदेवस्य, कथंभूतोऽसौ ? जिनः सकलकषायेन्द्रियजनाज्जिनः। स किं कृतवान् ? चकासे दीप्तवान्, क्व ? भुवनत्रयेऽस्मिन् अस्मिन्नागमादिप्रमाणप्रसिद्धभुवनत्रये त्रैलोक्ये, किं कुर्वन् ? शासदनुशासन्नियोजयन्, किं तत् ? श्रेयः धर्मं, काः ? इमाः प्रजाः अथवा काः शासत् ? इमाः श्रेयःप्रजाः इमाः प्रतीयमानाः श्रेयप्रजाः भव्यजनान्, क्व वर्त्मनि मार्गे, किंविशिष्टे ? श्रेयसि निःश्रेयसनिमित्ते अतिशयेन प्रशस्ये मोक्षमार्गे इत्यर्थः। कथंभूतोभवान् ? अजेयवाक्यः अजेयमबाध्यं वाक्यमस्य। अत्र दृष्टान्तमाह-एक इत्यादि एकोऽसहायो यथा यद्वत्, वीतघनो विशेषेण इता गता नष्टा घना मेघा यस्य, विवस्वानादित्यः, अयमत्र तात्पर्यार्थो यथा विगतमेघपटलावरण आदित्योऽप्रतिहतकरनिकरोऽनुपहत चक्षुष्मतीनां श्रेयःप्रजाना मेकोऽमिप्रेतस्थान प्राप्ति निमित्तं सन्मार्गमुपदर्शयन् राजते जगति तथा भगवान् अप्रतिहत वाक्यविशेषो मोक्षमार्ग मिति ॥१॥

आगे भगवान् के 'श्रेयत्' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अजेयवाक्यः) अबाधित वचनों से युक्त (श्रेयान् जिनः) हे श्रेयो जिन ! (इमाः प्रजाः) इन संसारी जनों को (श्रेयसि वर्त्मनि) कल्याण कारी मोक्ष मार्ग में (श्रेयः शासत्) हित का उपदेश देते हुए (भवान्) आप (अस्मिन् भुवनत्रये) इन तीनों लोकों में (एकः) अकेले ही (वीत घनः) मेघों के आवरण से रहित (विवस्वान् यथा) सूर्य के समान (चकाशे) प्रकाशमान हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जिस प्रकार अप्रतिहत किरणों का धारक सूर्य मेघों के आवरण से रहित होकर समस्त जनता को उत्तम मार्ग में लगाता हुआ तीनों लोकों में अकेला सुशोभित होता है उसकी कोई उपमा नहीं रखता उसी प्रकार प्रतिवादियों के द्वारा अखण्डनीय वचनों के धारक श्रेयोजिनेन्द्र घातिचतुष्क रुप मेघ के आवरण से रहित होकर समस्त जनता को कल्याण कारी मोक्षमार्ग लगाते हुए अकेले ही सुशोभित हुए है—उनकी कोई उपमा प्राप्त नहीं कर सका है। इस श्लोक में संस्कृत टीकाकार ने 'श्रेयः प्रजाः' इन पदों की दो प्रकार से व्याख्या की हैं। एक प्रकार में दोनों को अलग अलग पद मान कर 'प्रजाः श्रेयः शासद्'—प्रजा को कल्याण का उपदेश देते हुए यह अर्थ किया है और दूसरे प्रकार में श्रेयः प्रजा को एक पद मान कर श्रेयस् को प्रजा का विशेपण बना दिया है तथा श्रेष्ठ पूजा अर्थात् भव्य जनों को श्रेयसि वर्त्मनि शासद् श्रेष्ठ मोक्ष मार्ग में लगाते हुए यह अर्थ किया है ॥ १ ॥

कथमसौ तां शासदित्याह–

> विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।
> गुणोऽपरो मुख्य नियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥

विधिरित्यादि—विधिः स्वरूपादिचतुष्टयेनास्तित्वं कथंभूतो ? विषक्त प्रतिषेधरूपः विषक्तं कथंचित्तादात्म्येनं सम्बद्धं प्रतिषेधस्य पररूपेण नास्तित्वस्य रूपं यत्र स तथाभूतः प्रमाणं प्रमाणविषयत्वात् 'सकलादेशः प्रमाणाधीन' इत्यभिधानात्। इदानीं नयस्वरुपं प्रदर्शयन्नत्रेत्याद्याह-अत्रानयोर्विधिप्रतिषेधयोमध्येऽन्यतरद् विधिरुपं प्रतिषेधरूपं वा प्रधानं वक्तुरभिप्रायवशात् न पुनः स्वरुपतः सर्वदा तथाभावप्रसङ्गात्, गुणोऽप्रधानभूतोऽपरोऽन्यः। स कथंभूतो मुख्यनियामहेतुः मुख्यस्य प्रधानस्यविधेः प्रतिषेधस्य वा नियामः स्वरुपादिचतुष्टयेनैव विधिः पररुपादिचतुष्टयेनैव च प्रतिषेध इति योऽयं नियामस्तस्य हेतुर्निमितं नयो नयविषयत्वात् 'विकलादेशो नयाधीन' इति वचनात्। कथंभूतोऽसावित्याह—स दृष्टान्त समर्थन इति, स नयो नय विषयः स्वरुपचतुष्टयादिना अस्तित्वादिःदृष्टान्तसमर्थनो दृष्टान्ते घटादौ समर्थनं परं प्रति स्वरुपनिरुपणं यस्य दृष्टान्तस्य वा समर्थनमसाधारणस्वरुपनिरुपणं येनासौ दृष्टान्त समर्थनः। कस्य मते एवं विधो नय इत्याह ते तव भगवतो मते ॥ २ ॥

आगे विधि और निषेध की मुख्यता तथा गौणता का प्रतिपादन करते हैं–

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिन ! (ते) आपके मत में (विषक्त प्रतिषेधरूपः) जिसमें कथंचित् पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व रूप भी तादात्म्यसम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा (विधिः) स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व (प्रमाणम्) प्रमाण का विषय है। (अत्र) इन विधि और प्रतिषेध में (अन्यतरद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक (प्रधानम्) प्रधान है और (अपरः) दूसरा (गुणः) अप्रधान है। यहां (मुख्य नियामहेतुः) मुख्य के नियम का जो हेतु है (नयः) वह नय है तथा (सः) वह नय (दृष्टान्त समर्थनः) दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है।

भावार्थ—[1]जैनागम में प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थ का अधिगम बतलाया गया है। जो पदार्थ के सकल अंश—विधि पक्ष और निषेध पक्ष दोनों को ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं जैसा कि कहा गया है 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः' और जो विधि पक्ष और निषेध पक्ष इन दो में से किसी एक को वक्ता के अभिप्राय से मुख्य बनाकर निरूपित करता है वह नय कहलाता है जैसा कि कहा गया है 'विकलादेशो नयाधीनः'। इस श्लोक में प्रमाण और नय दोनों का विवेचन किया गया है। पदार्थ के विधि और निषेध ये दो मुख्य धर्म हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व का निरूपण करना विधि है और पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व का वर्णन करना निषेध है। विधि और निषेध दोनों ही धर्म पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं इसलिये इन दोनों धर्मों का भी परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है। फल स्वरूप विधि निषेध से सम्बद्ध है और निषेध विधि से सम्बद्ध है इस तरह दोनों को युगपत् ग्रहण करना प्रमाण का विषय है। परन्तु विधि और निषेध इन दोनों धर्मों में परस्पर बहुत अन्तर है अतः वक्ता दोनों को एक साथ नहीं कह सकता। वह कथन करते समय एक को मुख्य बनाता है और दूसरे को गौण। वक्ता की इस पद्धति को नय कहते हैं। यह नय वक्ता के अभिप्रायानुसार निरूपित मुख्य अर्थ का नियामक होता है अर्थात् कभी विधि-पक्ष को मुख्य और निषेध पक्ष को गौण और कभी निषेध पक्ष को मुख्य और विधि पक्ष को गौण बनाता है। यह दृष्टान्त—पदार्थ के असाधारण धर्म का समर्थन करने वाला होता है ॥ २ ॥

कः पुनर्मुख्यः को वा गौण इत्याह—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥

विवक्षित इत्यादि—वक्तुमिष्टोविवक्षितो मुख्य इत्येवमिष्यते, अन्योऽविवक्षितो वक्तुमनभिप्रेतो गुणोऽप्रधानः अविवक्षाविषयतया नञ्युक्तत्वात्। स तर्हि निःस्वभावो भविष्यतीत्याह—नेत्यादि न निरात्मको न निःस्वभावो नञ्युक्तपदार्थस्ते तव मतेऽनुदराकन्येत्यादिवत्। ननु मुख्यगुण प्रकारेण किं क्वाप्यनेकधर्मसद्भावो दृष्टो येन नयविषयेषु तथा कल्प्यत इत्याह—तथेत्यादि—तथा तेन मुख्यगुण प्रकारेण एकमपि वस्तु अरिमित्रानु-

[1] 'प्रमाणनयैरधिगमः' तत्त्वार्थ सूत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भयादिशक्ति अरिश्च मित्रं च अनुभयं च तानि आदिर्यस्याः सा शक्तिर्यस्य तत् अरिमित्रानुभयादिशक्ति। तथाह्येकोऽपि देवदत्तः कस्यचिदरिरनुपकारित्वात्, कस्यचित्तु मित्रमुपकारित्वात्, अपरस्योभय मुपकारानुपकारकारित्वात्, अन्यस्यानुभयं तं प्रत्युदासीनत्वादिति। किं पुनर्मुख्यगुणरूपधर्मद्वयकल्पनया प्रयोजनमित्यत्राह–द्वयेत्यादि–भावाभावरूपं द्रव्यपर्यायरूपं वा द्वयमवधिर्मर्यादा सर्वार्थानां तस्मात्तदाश्रित्य कार्यकरं हि स्फुटं वस्तु घटादि ॥ ३ ॥

अब मुख्य कौन है तथा गौण कौन है ? यह बताते हैं–

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपके मत में (विवक्षितः) विवक्षित पदार्थ (मुख्य इतीष्यते) मुख्य कहलाता है और (अन्यः) दूसरा—अविवक्षित पदार्थ (गुणः) गौण कहलाता है। (अविवक्षः) जो पदार्थ अविवक्षित है वह (निरात्मकः न) अभावरूप नहीं है (तथा) मुख्य और गौण की इस विधि से (वस्तु) पदार्थ (अरिमित्रानुभयादि शक्ति) शत्रु मित्र और अनुभय आदि शक्तियों से युक्त होती है (हि) निश्चय से समस्त पदार्थों की (द्वयावधिः) भाव अभाव अथवा द्रव्य और पर्याय रूप मर्यादा है और उसी मर्यादा का आश्रय कर वस्तु (कार्यकरं) कार्यकारी होती है।

भावार्थ—वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते विवक्षा से जो युक्त होता है वह विवक्षित कहलाता है वक्ता जिस पदार्थ को विवक्षित करता है वह मुख्य कहा जाता है और इससे भिन्न जो दूसरा पदार्थ है वह गौण या अप्रधान कहलाता है। पदार्थ की मुख्यता और गौणता निश्चित नहीं है, वह वक्ता की इच्छानुसार परिवर्तित होती रहती है। अविवक्षित पदार्थ सर्वथा अभाव रूप नहीं होता उसकी सत्ता अवश्य रहती है परन्तु तत्काल में आवश्यक न होने से वक्ता उसे गौण बनाकर दृष्टि से ओझल कर देता है। मुख्य और गौण की उक्त व्याख्या से एक ही वस्तु शत्रु मित्र तथा अनुभयादि नाना शक्तियों से युक्त देखी जाती है। जैसे देवदत्त उपकारी न होने से यज्ञदत्त का शत्रु है, उपकारी होने से चैत्रदत्त का मित्र है, उपकारी तथा अनुपकारी होने से जिनदत्त का कालक्रम से मित्र और शत्रु दोनों हैं तथा विष्णुदत्त के प्रति उदासीन होने से शत्रु तथा मित्र कुछ भी नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ के विधि–निषेध, भाव—अभाव अथवा द्रव्य—पर्याय ये दो रूप पाये जाते हैं तथा इन्ही का आश्रय प्राप्त कर घट पटादि वस्तु कार्यकारी होती है ॥ ३ ॥

ननु दृष्टान्त समर्थन इत्ययुक्तं दृष्टान्तेन प्रयोजनाभावादित्याशङ्क्याह—

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्नतु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामिदृष्टं त्वदीय दृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

दृष्टान्तसिद्धावित्यदि—दृष्टान्तो निदर्शन मुदाहरणं तस्य सिद्धौ निर्णीतौ साध्यं साधयितु मिष्टं प्रसिद्ध्येत्। कयोः ? उभयोर्वादि प्रतिवादिनोः, कस्मिन् ? विवादे विप्रति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्तौ, तर्ह्येकान्त एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यत्राह—नेत्यादि—न तु नैव तादृक् तथाविधं दृष्टान्तभूतमस्ति विद्यते वस्तु यदुदाहरणं भूत्वा सर्वथैकान्तनियामि सर्वथैकान्त एवास्तीति नियामकं दृष्टं प्रतिपन्नं। कुतो न दृष्टमित्याह—त्वदीयेत्यादि—त्वदीया चासौ दृष्टिश्च त्वदीय दृष्टिरनेकान्तात्मकं मतं सा विभवति, क्व ? अशेषे साध्ये, हेतौ दृष्टान्ते च अनेकान्तात्मकत्वेनाशेषं वस्तु व्याप्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

आगे दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(उभयोः) वादी और प्रतिवादी के (विवादे) विवाद में (दृष्टान्त सिद्धौ) उदाहरण की सिद्धि होने पर (साध्यं) साध्य (प्रसिद्धयेत्) अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है (तु) परन्तु (तादृक् न दृष्टं अस्ति) वैसी दृष्टान्त भूत कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है (यत्) जो (सर्वथैकान्तनियामि) सर्वथा एकान्तवाद का नियमन करने वाली हो क्योंकि (त्वदीयदृष्टिः) आपका अनेकान्तमत (अशेषे) समस्त—साध्य, साधन और दृष्टान्त में (विभवति) अपना प्रभाव डाले हुए है।

भावार्थ—जब वादी और प्रतिवादी के मध्य किसी साध्य को लेकर विवाद खड़ा होता है तब उसका निर्णय दृष्टान्त की सिद्धि हो जाने पर सरलता से हो जाता है यहां भी एकान्त दृष्टि और अनेकान्त दृष्टि को लेकर वादी तथा प्रतिवादी के मध्य विवाद खड़ा हुआ है इसका निर्णय दृष्टान्त की सिद्धि होने पर सरलता से हो सकता है परन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त दृष्टिगोचर नहीं होता जो सर्वथा एकान्त दृष्टि का समर्थन करने वाला हो जब कि इसके वावजूद अनेकान्तदृष्टि का समर्थन करने वाले अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। क्या साध्य में, क्या साधन में क्या दृष्टान्त में सब जगह हे भगवन् आपकी अनेकान्तदृष्टि ही अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। अतः जिसके दृष्टान्त विद्यमान हैं तथा जिसका प्रभुत्व सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है वह अनेकान्त दृष्टि ही साधीयसी—श्रेष्ठतर है ॥ ४ ॥

नन्वेकान्तप्रतिषेधे सिद्धे अनेकान्तात्मकत्वेनाशेषस्य वस्तुनो व्याप्तिसिद्धिः तत्प्रतिषेधश्च कैरित्याह—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥ ५ ॥

एकान्तदृष्टिरित्यादि—सर्वं सदैवासदेव नित्यमेवेत्याद्यभिनिवेश एकान्तदृष्टिः तस्याः प्रतिषेधस्तस्य सिद्धिः, कैः ? न्यायेषुभिः न्यायाः प्रमाणानि त एव इषवो बाणास्तैः प्रवचनादि प्रमाणबाणै रेकान्ताभिनिवेश निवारणसिद्धिरित्यर्थः। अनेन परार्थसम्पत्तिर्भगवतः सूचिता। आत्मसम्पत्तिश्च स्वार्थसम्पत्तौ सत्यां स्यादिति तत्सूचनार्थं मोहेत्याद्याहमोहोऽज्ञानं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स एव रिपुः शत्रुः अथवा मोहो मोहनीयं कर्म रिपुर्ज्ञानावरणादिकर्मत्रयं मोहेन समन्वितो रिपुर्मोहरिपुस्तं निरस्य निराकृत्येत्ययं स्वार्थसम्पत्तेरुपायः, असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राडिति स्वार्थसंपत्तिः, असि स्म भूतवान्, केवलमसहायं क्षायिकं ज्ञानं, केवलमेव कैवल्यं तस्मिन् सति विभूतिः समवसरणादिलक्ष्मीस्तस्याः सम्राट् चक्रवर्ती यत एव ततः कारणात् त्वमर्हन् असि भवसि मे मम स्तवार्हः स्तुतियोग्यः ॥ ५ ॥

अब एकान्त का निषेध और अनेकान्त की सिद्धि किससे होती है यह बतलाते हैं--

अन्वयार्थ—हे श्रेयो जिनेन्द्र ! (एकान्तदृष्टि प्रतिषेधसिद्धि) एकान्तदृष्टि के निषेध की सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्याय रूप बाणों के द्वारा होती है अर्थात् आपने न्याय रूप बाणों के द्वारा सर्वथा एकान्त वादियों का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है और (यतः) जिस कारण आप (मोहरिपुं) अज्ञान रूपी शत्रु अथवा मोहनीय कर्म से युक्त ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों को (निरस्य) नष्ट कर (कैवल्यविभूतिसम्राट्) केवलज्ञान रूप विभूति अथवा समवसरणादि रूप लक्ष्मी के सम्राट् (असि स्म) हुए हैं (ततः) इस कारण (अर्हन्) हे अर्हन्त (त्वम्) आप (मे) मेरे (स्तवार्हः) स्तवन के योग्य (असि) हैं अर्थात् मैं आपकी स्तुति करता हूं ।

भावार्थ—समस्त पदार्थ सत् रूप ही हैं असत् रूप ही हैं, नित्य रूप ही हैं अथवा अनित्यरूप ही हैं इत्यादि प्रकार का अभिप्राय रखना एकान्त दृष्टि है । इस एकान्त दृष्टि का निराकरण न्याय अर्थात प्रमाणरूप बाणों के द्वारा ही हो सकता है सो आपने उत्तमोत्तम प्रमाणों से उस एकान्त वाद का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है इस तरह आप परार्थ सम्पत्ति से युक्त हैं तथा आप शुक्लध्यान के द्वारा मोहरिपु—अज्ञान रुपी शत्रु को अथवा मोह कर्म से युक्त ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञानरूप विभूति के चक्रवर्ती हुए हैं और उसके फलस्वरूप समवसरण अथवा अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी के स्वामी हुए हैं इस तरह आप स्वार्थसंपत्ति से युक्त हैं । हे अर्हन् ! हे पूज्य जिनेन्द्र ! जिस कारण आप पूर्वोक्त प्रकार से परार्थ सम्पत्ति और स्वार्थ सम्पत्ति से युक्त हैं इस कारण आप मेरी स्तुति के योग्य हैं ॥ ५ ॥

इति श्रेयोजिन स्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीवासुपूज्यजिनस्तवनम्

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥१॥

शिवासु पूज्य इत्यादि--उपजातिच्छन्दः । शिवासु शोभनासु अभ्युदयक्रियासु स्वर्गावतरणादिकल्याणेषु पूज्यः स्तुत्यः त्वं भगवान्, किं नामेत्याह—वासुपूज्य इति वसुपूज्यस्यापत्यं वासुपूज्यो नामेदं द्वादशतीर्थंकरदेवस्य, पुनरपि कथंभूतस्त्वं ? त्रिदशेन्द्रपूज्यः उपलक्षणमेतत्तेन नराधिपादिपूज्य इति लभ्यते । य इत्थंभूतस्त्वं भगवान् स मयापि समन्तभद्रस्वामिनापि पूज्यः स्तुत्यः, कथंभूतेन ? अल्पधिया मन्दधिया, हे मुनीन्द्र गणधरदेवादिमुनिस्वामिन् ! यदि त्वमल्पधीः किमर्थं भगवन्तं पूजयसीत्याह—दीपेत्यादि—दीपस्य अर्चिः शिखा दीपार्चिः तेन स्वल्पतेजसा, किं वितर्के किं न तपन आदित्यस्तेजोनिधिः पूज्यो अपि तु पूज्य एव ॥१॥

मुझ अल्प बुद्धि के द्वारा भगवान् वासुपूज्य की पूजा विधि का विधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र !) हे गणधरादि मुनियों के स्वामी ! (शिवासु) कल्याणकारिणी (अभ्युदयक्रियासु) स्वर्गावतरण आदि कल्याणकों की क्रियायों में (पूज्यः) पूज्य (वासुपूज्यः) वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले (त्वम्) आप चूंकि (त्रिदशेन्द्रपूज्यः) इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूज्य हैं अतः (अल्पधिया) अल्पबुद्धि के धारक मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी (पूज्यः) पूज्य हैं (किं) क्या (दीपार्चिषा) दीपशिखा के द्वारा (तपनः) सूर्य (न पूज्यः) पूजनीय नहीं होता ?

भावार्थ—बारहवें तीर्थंकर, राजा वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण 'वासुपूज्य' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले थे । गर्भावतरण आदि की प्रशस्त क्रियाओं में इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकोत्तर पुरुष उनकी पूजा करते थे उनकी इस महिमा से प्रभावित होकर समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे मुनिराज ! गर्भादिकल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं में आप पूज्य हैं साधारण मनुष्यों के द्वारा नहीं किन्तु अवधिज्ञान के धारक इन्द्र तथा विशिष्ट ज्ञानी चक्रवर्ती आदि के द्वारा । परन्तु मैं अल्पबुद्धि का धारक हूँ मेरी इतनी क्षमता कहां कि इन्द्र आदि ज्ञानी जीवों के द्वारा पूज्य आपकी पूजा कर सकूं । फिर भी एक दृष्टान्त मेरे सामने हैं सूर्य विशाल प्रभा का पुञ्ज है-संसार का अन्धकार नष्ट करने वाला है फिर भी भक्त लोग दीपशिखा के द्वारा उसकी पूजा करते हैं वे यह विचार नहीं करते कि सूर्य के प्रबल प्रकाश के समक्ष टिमटिमाती दीप शिखा कितना सा प्रकाश कर सकेगी ? इसी तरह मैं जानता हूं कि आप महान् हैं मैं अपनी अल्पबुद्धि से आपकी क्या स्तुति कर सकता हूँ ?-आपके गुणों पर क्या प्रकाश डाल सकता हूँ ? फिर भी आपकी पूजा के लिये उद्यत हो रहा हूँ, क्या आप मेरी पूजा को स्वीकृत न करेंगे ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवदीयया पूजया भगवतः किं प्रयोजन मित्याह—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ २

नेत्यादि—नार्थो न प्रयोजनं, कया ? पूजया स्तुतिगन्धमाल्याद्यर्चनलक्षणया, क्व ? त्वयि, कथंभूते ? वीतरागे वीतरागत्वात्पूजया तव न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थः । निन्दा तत्र कर्तव्येत्यत्राह—न निन्दयेत्यादि–निन्दया असद्भूतदोषोद्भावनाक्रोशादिलक्षणया, त्वयि नाथ ! स्वामिन् ! न अर्थ इति सम्बन्धः, कथंभूते त्वयि ? विवान्त वैरे विवान्तं विनिर्गतं वैरं यस्मादसौ विवान्तवैरः परित्यक्तकोप इत्यर्थः तस्मिन् । यदि भगवतः पूजया नि किंचित्प्रयोजनं तर्हि किमर्थं भवांस्तत्र पूजां करोत्याह—तथापीत्यादि–यद्यपि भगवतः पूजया न किंचित् प्रयोजनं तथापि ते पुण्याः प्रशस्ताः पवित्रा वा ये गुणा अनन्तज्ञानादयस्तेषां स्मृतिः निर्मलमनसा स्वरूपानुचिन्तनं स्तवनं च नोऽस्माकं चित्तं चिद्रूपमात्मस्वरूपं पुनातु निर्मलीकरोतु, केभ्यो ? दुरिताञ्जनेभ्यः दुरितानि पापान्येवाञ्जनानि जीवस्य दुःखकालुष्यहेतुत्वात् तेभ्यः ॥२॥

आपकी पूजा से आपको क्या प्रयोजन है ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! यद्यपि (वीतरागे) राग से रहित (त्वयि) आप में (पूजया) पूजा के द्वारा (अर्थः न) प्रयोजन नहीं है और (विवान्त वैरे) वैर से रहित आपमें (निन्दया) निन्दा के द्वारा (अर्थः न) मतलब नहीं है (तथापि) तो भी (ते) आपके (पुण्यगुणस्मृतिः) प्रशस्त गुणों का स्मरण (नः) हमारे (चित्तं) मन को (दुरिताञ्जनेभ्यः) पाप रूपी अञ्जन से (पुनातु) पवित्र करें–दूर रक्खें ।

भावार्थ—रागी मनुष्य अपनी स्तुति को सुनकर प्रसन्न होता है और द्वेषी मनुष्य अपनी निन्दा को सुनकर अप्रसन्न होता है परन्तु भगवान् जिनेन्द्र वीतराग और वीतद्वेष हैं इसलिये उन्हें यद्यपि न स्तुति से प्रयोजन है और न निन्दा से, तथापि समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि भगवन् ! आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप रूप कालिमा से बचावे—दूर रक्खे । इस जीवका अधिकांश काल पाप तथा उसकी सामग्री जुटाने की चिन्तना में ही व्यतीत होता है और उससे पापास्रव होता रहता है, भगवान् की स्तुति या पूजा करने से यद्यपि भगवान् को कुछ प्रसन्नता नहीं होती तथापि उतने समय तक स्तुति करने वाले का चित्त पाप के चिन्तन मे बच कर भगवद्गुण अथवा उनके माध्यम से आत्म-स्वरूप के चिन्तन में संलग्न रहता हैं अतः पापास्रव से उसकी रक्षा होती रहती है ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ननु दधिदुग्धगन्धमाल्यादिना भगवतः पूजाभिधाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्य-सद्भावादित्याशङ्कयाह----

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥३॥

पूज्यमित्यादि---पूज्यमाराध्यं जिनमर्हन्तं त्वा त्वां वासुपूज्यं अर्चयतः पूजयतः जनस्य भव्यप्राणिगणस्य सावद्यलेशः अवद्यं पापं सह अवद्येन वर्तते इति सावद्यं कर्म तस्य लेशो लवः पूजां कुर्वतो यः संपन्नः स दोषाय पुण्योपार्जने प्रवृत्तदोषः पापोपार्जनं तस्मै न अलं न समर्थो भवति, कस्मिन् ? बहुपुण्यराशौ १प्रचुरपुण्यपुञ्जे तेनोपहतशक्तित्वात्तस्य । केवेत्याहकणिका मात्रालवो विषस्य न दूषिका न मारणात्मकविषधर्मं संपादिका । क्व ? शीतशिवाम्बुराशौ शीतं च शीतलं च शिवं च स्पर्शनेन्द्रियप्रह्लादकरं तच्च तदम्बु च जलं तस्य राशिः संधातो यत्रासौ शीतशिवाम्बुराशिः समुद्रस्तस्मिन् ॥३॥

पूजा में होनेवाली अल्प हिंसा दोष का कारण नहीं है यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (पूज्यं) इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा (जिनं) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले (त्वा) आपकी (अर्चयतः) पूजा करने वाले (जनस्य) मनुष्य के जो (सावद्यलेशः) सरागपरिणति अथवा आरम्भादिजनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह (बहुपुण्यराशौ) बहुत भारी पुण्य की राशि में (दोषाय) दोष के लिये (अलं न) समर्थ नहीं है क्योंकि (विषस्य) विष की (कणिका) अल्पमात्रा (शीतशिवाम्बुराशौ) शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में (दूषिका न) दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है ।

भावार्थ—हे नाथ ! पूजा की सामग्री जुटाते समय आरम्भादि के कारण पूजा करने वाले मनुष्य के जो अल्पतम द्रव्य हिंसा होती है तथा सराग परिणति के कारण अल्पतम भाव हिंसा होती है उससे पूजा करने वाले का कुछ अहित नहीं होता क्योंकि वीतराग जिनेन्द्र की पूजा करने से जो विशाल पुण्य उत्पन्न होता है उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है ठीक उस तरह जिस तरह कि शीतल और आनन्द दायी जल के समुद्र में विष की एक कणिका ॥३॥

ननु मुनीनां पुष्पादिपरिग्रहासंभवात् कथं भगवति पूजा स्यादित्याशङ्कयाह--

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥४॥

---

१ प्रवरपुण्यपुञ्जेने पहनशक्तित्वात् ख० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदित्यादि—यद्वस्तु पुष्पादिकं बहिर्भवं बाह्यं कथंभूतं निमित्तं कारणं, कस्याः ? गुणदोषसूतेः गुणः पुण्यं दोषः पापं तयोः सूतिः प्रसूति रुत्पत्तिस्तस्याः, तत्किमित्याह—तदङ्गभूतं तद्वस्तु बाह्यं पुष्पादिकमङ्गभूतं सहकारिकारणभूतं, कस्य ? अभ्यन्तरमूलहेतोः अभ्यन्तरश्चासौ मूलहेतुश्च प्रधान हेतुः पुण्यपापोत्पत्ता वुपादान हेतुरित्यर्थः, कथंभूतस्य अस्य ? अध्यात्मवृत्तस्य आत्मनि अधि वृत्तं वर्तनं शुभाशुभपरिणाम लक्षणं यस्य, अनेन भक्तिलक्षण शुभपरिणामहीनस्य पूजादिकं न पुण्यकारण मित्युक्तं भवति ततः अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते अभ्यन्तरं शुभाशुभ जीव परिणामलक्षणं कारणं केवलं बाह्यवस्तु निरपेक्षं, न केवलं तत्सापेक्षमित्यापि शब्दार्थः, अलं समर्थं गुणदोषसूते स्ते तव मते ॥ ४ ॥

पुष्पादि बाह्य सामग्री के विना भी मुनि के पूजा संभव है यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यद् वस्तु) जो पुष्पादिक पदार्थ (गुणदोषसूतेः) पुण्य और पाप की उत्पत्ति के (बाह्यं) वहिरङ्ग (निमित्तं) कारण हैं (तद्) वह (अध्यात्मवृत्तस्य) आत्मा में प्रवर्तने वाले (अभ्यन्तरमूल हेतोः) अन्तरङ्ग—उपादानरूप मूलकारण का (अङ्गभूतं) सहकारी कारण है। हे भगवन् ! (ते) आपके मत में (अभ्यन्तरं) अन्तरङ्ग कारण (केवलमपि) बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार का (अलं) गुण दोष की उत्पत्ति में समर्थ है।

भावार्थ—कार्य की उत्पत्ति में अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दो कारण आवश्यक माने गये हैं। अन्तरङ्ग कारण को उपादान कारण कहते हैं और वहिरङ्ग कारण को सहकारी कारण। अन्तरङ्ग कारण कार्य की उत्पत्ति में मूलकारण–प्रधान कारण है और वहिरङ्ग कारण उसका अङ्गभूत है अप्रधान कारण है। यहां प्रकरण यह है कि पुष्पादिक बाह्यसामग्री के अभाव में मुनि जिनेन्द्र पूजा किस प्रकार कर सक्ते हैं ? इस प्रश्न का समाधान समन्तभद्र स्वामी ने निम्न प्रकार दिया है कि पुष्पादिक पदार्थ गुण दोष की उत्पत्ति में बाह्य निमित्तं हैं और शुभा शुभ परिणाम अन्तरङ्ग निमित्त हैं। अन्तरङ्ग निमित्त आत्मा में प्रवर्तने के कारण मूल निमित्त है–प्रधान हेतु है और पुष्पादिक बाह्य सहायक होने से अङ्गभूत हैं–अप्रधानभूत हैं। मूलनिमित्त के अभाव में–भक्ति रूप अन्तरङ्ग कारण के न होने पर पुष्पादिक बाह्य पदार्थ पुण्य के कारण हो नहीं सकते परन्तु कदाचित् पात्र की योग्यतानुसार पुष्पादिक बाह्य पदार्थ के अभाव में भक्तिरूप अन्तरङ्ग कारण अकेला भी पुण्य का कारण हो सकता है। अन्तरङ्ग कारण, वहिरङ्ग कारण से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही अवस्थाओं में कार्यकर होता है और बहिरङ्ग कारण अन्तरङ्ग कारण से सापेक्ष ही कार्यकर होता है। यहां मूल में 'केवलं' के साथ 'अपि' शब्द दिया हुआ है और संस्कृत टीकाकार ने उसकी व्याख्या की है कि 'अभ्यन्तरं शुभाशुभजीवपरिणामलक्षणं कारणं केवलं बाह्यवस्तु निरपेक्षं, न केवलं तत्सापेक्ष मित्यपि शब्दार्थः। अर्थात् जीव के शुभाशुभ परिणामरूप अन्तरङ्ग कारण केवल–बाह्यवस्तु से निरपेक्ष, न केवल बाह्य वस्तु से निरपेक्ष किन्तु उससे सापेक्ष भी गुण दोष की उत्पत्ति में समर्थ हैं। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामी को न यह इष्ट है कि केवल उपादान कारण से ही कार्य होता है और न यही इष्ट है कि किसी भी दशा में बाह्य कारण के बिना कार्य होता ही नहीं है। वे आम तौर पर कार्य की उत्पत्ति के लिये बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों कारणों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की समग्रता–पूर्णता को आवश्यक समझते हैं और किसी खास स्थिति में किसी व्यक्ति विशेष के किसी खास कार्य की उत्पत्ति किसी खास बाह्य कारण के विना भी हो सकती है यह भी स्वीकृत करते हैं।

एतच्च सर्वं जैनमत एव घटते नान्दत्रेति दर्शयन्नाह–

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ५

बाह्य इत्यादि—बाह्यश्च इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तौ उपाधी च हेतू उपादान सहकारिकारणे तयोः समग्रता संपूर्णता इयं प्रतीयमाना, क्व ? कार्येषु घटादिषु ते तव मते कथंभूता ? द्रव्यगतस्वभावः जीवादि पदार्थगत मर्थक्रियाकारिस्वरूपं, अन्यथा एतस्मात् तत्समग्रता–तत्स्वभावता प्रकारादन्ये न तदसमग्रतातदस्वभावताप्रकारेण नैव मोक्षविधिश्च च शब्दो अपि शब्दार्थः, न केवलं घटादि विधानं नैवान्येन प्रकारेण घटते किन्तु मोक्ष–विधिरपि पुंसां मुक्त्यर्थिनां यत एवं तेन कारणेनाभिवन्द्यस्त्वं बुधानां गणधरदेवादिवि–पश्चिताम्। कथंभूतः ? ऋषिः परमर्द्धिसंपन्नः ॥ ५ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री से ही कार्य की उत्पत्ति होती है यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (कार्येषु) घट आदि कार्यों में (इयं) यह जो (बाह्येतरोपाधिसमग्रता) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है वह (ते) आपके मत में (द्रव्यगतः) जीवादि द्रव्य गत (स्वभावः) स्वभाव है (अन्यथा) अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं किन्तु (पुंसां) मोक्षाभिलाषी पुरुषों के (मोक्षविधिश्च) मोक्ष की विधि भी (नैव) घटित नहीं होती है (तेन) इसीलिये (ऋषि) परम ऋद्धियों से युक्त (त्वम्) आप (बुधानां) गणधरादि बुधजनों के (अभिवन्द्यः) वन्दनीय हैं।

भावार्थ—घटादि कार्यों की उत्पत्ति के लिये बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों कारणों की पूर्णता आवश्यक है क्योंकि दण्ड चक्र चीवर आदि बहिरङ्ग कारणों के बिना घट निर्माण के योग्य मिट्टीरूप अन्तरङ्ग कारण के रहते हुए भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती और दण्ड चक्र चीवर आदि बहिरङ्ग कारणों के रहने पर भी घट निर्माण की योग्यता से रहित प्रचुर बालुका से युक्त मिट्टी के द्वारा उपादान कारण के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब निज की योग्यता रूप अन्तरंग उपादान कारण और उस योग्यता को विकसित करने में सहायक रूप बहिरंग–निमित्त कारण–दोनों की अनु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कूलता होती है तभी घटादि कार्यों की उत्पत्ति होती है यही द्रव्य का स्वभाव है—यही द्रव्य का अर्थ क्रियाकारित्व है । घटादि कार्यों का स्वभाव जलधारणादि क्रियाकारित्व है सो यह स्वभाव उक्तविधि से ही प्रकट हो सकता है अन्य विधि से नहीं । 'मोक्ष विधिश्च पुंसां' यहां चकार का अर्थ अपि है इसलिये यह अर्थ प्रकट होता है । यह विधि न केवल घटादिकार्यों के विषय में है किन्तु मोक्षाभिलाषी पुरुषों के मोक्षरूप कार्य के विषय में भी है । मोक्ष, जीवद्रव्य की पर्याय है इसका उपादान कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता से युक्त भव्यात्मा है तथा सहकारी कारण मुनिव्रत से युक्त कर्मभूमिज मनुष्य का शरीर आदि है । इन दोनों कारणों की अनुकूलता होने पर ही जीव द्रव्य में मोक्ष पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । मात्र उपादान से या मात्र निमित्त से कार्य की उत्पत्ति मानना संगत नहीं है । यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है इसलिये उपादानोपादेयभाव एक द्रव्य में ही बनता है भिन्न द्रव्यों में नहीं परन्तु इतने मात्र से निमित्त नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि निमित्त नैमित्तिक भाव भिन्न द्रव्यों में बनता है । कर्म रूप पुद्गल द्रव्य के निमित्त से जीव में रागादि विकारी भावों की उत्पत्ति होती है और जीव के रागादि विकारी भावों के निमित्त से पुद्गल द्रव्य में कर्म रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है । तथा जीव और कर्म के संयोग से चतुर्गति रूप संसार चल रहा है इस प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु तत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता । हे भगवन् ! चूंकि आपने इस द्रव्यगत स्वभाव की—इस कार्यकारणभाव की व्यवस्था वतलाई है तथा आप ऋषि हैं—अनेक ऋद्धियों से युक्त निःस्पृह साधु हैं इसीलिये गणधरादिक बड़े बड़े विद्वान् आपको अभितः—सब ओर से मनसा वाचा कर्मणा वन्दना करते हैं ।

चतुर्थ श्लोक के चतुर्थ चरण 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' के द्वारा मात्र इस प्रश्न का समाधान किया गया था कि मुनियो के पुष्पादि बाह्यपरिग्रह के बिना पूजा किस प्रकार संभव है ? और इस श्लोक में कार्यकारणभाव की चर्चा की गई है इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर दोनों श्लोकों के कथन में असंगति नहीं मालूम होती ।। ५ ।।

इति वासुपूज्यजिनस्तवनम्

श्री विमलजिनस्तवनम्

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।।१।।

य एवेत्यादि—वंशस्थच्छन्दः । य एव नया नित्यक्षणिकादयः नित्यश्च क्षणिकश्च तावादी येषा ते तथोक्ताः आदिशब्देन सत्ताद्येकान्तपरिग्रहः । कथंभूतास्ते ? स्वपरप्रणा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिनः स्वश्च तथाध्यवसायपरिणतः आत्मा परश्च तथाध्यवसाये प्रवर्तमानः तयोः प्रणाशयितुं संसारदुःखार्णवे पातयितुं शोलं येषां ते स्वपरप्रणाशिनः दुर्णया इत्यर्थः। कथंभूताः सन्तस्ते तथाविधा इत्याहमिथोऽनपेक्षा अन्योऽन्यनिरपेक्षाः। य एवंविधाः परमतापेक्षया नयाः त एव तत्वं परमार्थस्वरूपं भवति सम्यग्नया भवन्तीत्यर्थः। कस्य ? विमलस्य विगतो मलो ज्ञानावरणादिकर्मलक्षणो यस्यासौ विमलस्त्रयोदशतीर्थंकरः तस्य, ते तव, मुनेः प्रत्यक्षवेदिनः। कथंभूताः सन्तस्ते तत्व भवन्ति ? परस्परेक्षाः परस्पर मन्योऽन्य मीक्षा अपेक्षा येषां, कुतस्ते तथाविधाः सन्तस्तत्वं भवन्ति स्वपरोपकारिणो यतः ॥ १ ॥

आगे निरपेक्ष नय मिथ्या हैं यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—(ये एव) जो ही (नित्यक्षणिकादयः नयाः) नित्य अथवा क्षणिक आदि नय (मिथोऽनपेक्षाः) परस्पर में निरपेक्ष हो कर अन्यमतों में। स्वपरप्रणाशिनः) निज और पर का नाश करने वाले हैं (ते एव नयाः) वे ही नय (परस्परेक्षाः) परस्पर की अपेक्षा रखते हुए (स्वपरोपकारिणः) निज और पर का उपकार करने वाले हो कर (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी (ते) आप (विमलस्य) विमल जिनेन्द्र के मन में (तत्वं) वस्तु स्वरूप [भवन्ति] होते हैं।

भावार्थ—द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष रूप होने से संसार के समस्त पदार्थ दो भागों में विभाजित हैं। यद्यपि इनमें प्रदेश भेद नहीं है तथापि ज्ञान की अपेक्षा भेदकल्पना की जाती है। जब ज्ञान, द्रव्य अथवा सामान्य अंश को ग्रहण करता है तब पदार्थ नित्य अनुभव में आता है और जब ज्ञान, पर्याय अथवा विशेष अंश को ग्रहण करता है तब पदार्थ क्षणिक अथवा अनित्य अनुभव में आता है। चूंकि द्रव्य और पर्याय में अथवा सामान्य और विशेष में प्रदेश भेद नहीं है इसलिये द्रव्य या सामान्य अंश को ग्रहण करते समय पर्याय या विशेष अंश को गौण तो किया जा सकता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता इसी प्रकार पर्याय या विशेष अंश को ग्रहण करते समय द्रव्य या सामान्य अंश को गौण तो किया जा सकता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता। क्योंकि सर्वथा उपेक्षित किये जाने पर नय परस्पर निरपेक्ष हो जाते हैं और उस निरपेक्ष अवस्था में वे नय न तो स्व-अपने गृहीतअंश को सुरक्षित रख सकते हैं और न पर-अपने द्वारा अगृहीत अंश को ग्रहण कर सकते हैं। द्रव्य विना पर्याय के नहीं रह सकता और पर्याय विना द्रव्य के निराधार नहीं रह सकता इसलिये एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट होते हैं। सांख्य तथा बौद्ध आदि अन्य दर्शनों में पदार्थ के एक एक अंश को ग्रहण कर उन्हें सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक माना गया है। इस स्थिति में वे नय दुर्णय कहे जाते हैं—उनसे पदार्थ के परमार्थ स्वरूप का प्रतिपादन संभव नहीं है परन्तु हे विमल जिनेन्द्र ! आप ज्ञानावरणादि कर्म रूप मल से रहित हैं इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं उस प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा आपने वस्तु-तत्व का अच्छी तरह अवलोकन कर प्रतिपादन किया है यही कारण है कि आपके नय परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं इसलिये निज और पर का उपकार करने वाले हैं तथा परमार्थ स्वरूप हैं ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ननु यदि नित्योऽनित्यमपेक्षते सोऽपि नित्यं तर्हि सर्वस्य सर्वापेक्षाप्रसङ्गात् प्रतिनियतव्यवस्थाविलोपः स्यादित्याशङ्क्याह---

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् ।
तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥२॥

यथेत्यादि--यथा यद्वत् एकमेकमेकशः कारकमुपादानकारणं सहकारिकारणं वा अर्थ सिद्धये कर्मनिष्पत्तये प्रभवति, किं कृत्वा ? समीक्ष्य अपेक्ष्य । किं तदित्याह–शेषमित्यादि शेषमन्यत् स्वसहाय कारकं स्वसहायं च तत्कारकं च तत् । अयमर्थः–उपादान कारणं सहकारिकारणमपेक्षते तच्चोपादानकारणं न च सर्वेण सर्वमपेक्ष्यते किन्तु यद्येनापेक्ष्यमाणं दृश्यते तत्तेनापेक्ष्यते । एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयन्नाह— तथैवेत्यादि-तथैव तेनैव सापेक्षत्वप्रकारेण नयाः प्रतिपत्तुरभिप्रायाः, तव विमलस्येष्टाः अभिप्रेताः, कथंभूताः ? सामान्यविशेषमातृकाः सामान्यं च विशेषश्च तौ मातरौ जनकौ येषां तयोर्वा मातृकाः मातर एव मातृकाः परिच्छेदकाः । कथं ते तवेष्टाः ? गुणमुख्यकल्पतो गुणमुख्यकल्पनया सामान्यस्य हि मुख्यकल्पे विशेषगुणकल्पना तस्य वा मुख्यकल्पे सामान्यस्य गुणकल्पना प्रयोजनवशात् ॥ २ ॥

आगे नयों में प्रतिनियत व्यवस्था का विधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकशः) एक एक (कारकम्) उपादानकारण या निमित्तकारण (स्वसहायकारकं) अपनी सहायता करने वाले (शेषं) अन्य कारक की (समीक्ष्य) अच्छी तरह अपेक्षा करके (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ होता है (तथैव) उसी प्रकार (सामान्य विशेषमातृका) सामान्य और विशेष से उत्पन्न अथवा सामान्य और विशेष को जानने वाले एवं (गुणमुख्यकल्पतः) गौण और मुख्य की कल्पना से (तव) आपको (इष्टाः) अभिप्रेत (नयाः) नय (अर्थ सिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ हैं ।

भावार्थ—यहां कारकं शब्द की व्युत्पत्ति 'करोतिक्रियां निर्वर्तयतीति कारकं' इस प्रकार है अर्थात् जो क्रिया को करे उसे कारक कहते हैं। कारक, कर्ता कर्म करण आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। वे सब कारक अपने सहायक अन्य कारक की अपेक्षा रख कर ही कार्य करने में समर्थ होते हैं निरपेक्ष होकर नहीं। संस्कृत टीकाकार ने खास कर कारक शब्द का उपादान कारण और सहकारी कारण यह अर्थ किया है । जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादान कारण है और जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है वह सहकारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण है। उपादान कारण सहकारी कारण की अपेक्षा रखता है और सहकारी कारण उपादान कारण की अपेक्षा रखता है। दोनों कारण एक दूसरे की अपेक्षा रख कर ही कार्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं निरपेक्ष नहीं। यह बात जुदी है कि कहीं उपादान कारण को मुख्य और सहकारी कारण को गौण किया जाता है और कहीं सहकारी कारण को मुख्य और उपादान कारण को गौण किया जाता है। एक किसान बीज की शक्ति की ओर दृष्टि न रख कर मात्र सहकारी कारणों की ओर दृष्टि रखता है और खेती में सफलता न मिलने पर दुखी होता है उसे कहा जाता है कि हे भद्र! जिस प्रकार तू बाह्य सहकारी कारणों की ओर दृष्टि रखता है उनकी संभाल करता है उसी प्रकार बीज की ओर भी दृष्टि रख। उत्तम जाति का निर्घुण बीज ही अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है घुना हुआ बीज नहीं। यहां बीज रूप उपादान कारण को मुख्यता देकर सहकारी कारण को गौण किया गया है। इसी प्रकार एक किसान चुन चुन कर अच्छा बीज बोता है परन्तु जमीन और ऋतु आदि की अनुकूलता न देख ऊषर जमीन मे आर्द्रता नष्ट हो जाने पर बीज बोता है और खेती में सफलता न मिलने पर दुखी होता है उसे कहा जाता है कि हे भद्र! जिस प्रकार तूने बीज को उतम चुना है उस प्रकार जमीन आदि बाह्य सहकारी कारणों का भी तो चुनाव ठीक ठीक कर। उत्तम बीज ऊषर जमीन में क्या लाभ पहुँचा सकेगा? यहां सहकारी कारण को मुख्यता देकर उपादान कारण को गौण किया गया है। इसी प्रकार कोई भद्र आत्मशक्ति की ओर दृष्टि न रख मात्र शरीराश्रित क्रियाकाण्ड के द्वारा मुक्ति रूप कार्य की सिद्धि करना चाहता है उसे कहा जाता है कि हे भद्र! मात्र शरीराश्रित क्रियाओं को कर तू अनन्त वार मुनि हुआ परन्तु आत्मशक्ति की संभाल के विना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सका। यहां उपादान कारण की मुख्यता देकर सहकारी कारण को गौण किया गया है और एक भद्रप्राणी मात्र आत्मशक्ति की ओर जोर देकर शरीराश्रित बाह्यचारित्र के परांङ्मुख हो रहा है उसे कहा गया है कि हे भद्र! यद्यपि बाह्य चारित्र शरीराश्रित क्रिया है तथापि इसके विना आत्मशुद्धि रूप आभ्यन्तरचारित्र प्रकट होने वाला नहीं। यहां बाह्य सहकारी कारण को मुख्यता और उपादान कारण को गौणता दी गई है। इस प्रकार मुख्यता और गौणता को स्वीकृत करते हुए भी जब दूसरे की अपेक्षा को सर्वथा नहीं छोड़ा जाता है तभी उपादान या सहकारी कारण कार्य करने में समर्थ होते हैं। यहां उपादान कारण और सहकारी कारण को दृष्टान्त कोटी में रखकर नयों को दार्ष्टान्त कोटी में रखा है। जैनागम में मुख्य रूप से दो नय माने गये हैं—१-द्रव्यार्थिक नय और २-पर्यायार्थिक नय अथवा १ निश्चय नय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय की माना—उत्पादक द्रव्य अथवा सामान्य है। और पर्यायार्थिक नय की माना—उत्पादक पर्याय अथवा बिशेष है। इसी प्रकार निश्चय नय का उत्पादक द्रव्य है और व्यवहार नय का उत्पादक पर्याय है। ये दोनों नय प्रतिपाद्य—शिष्य की योग्यता देख प्रतिपत्ता—वक्ता के अभिप्रायानुसार मुख्य और गौण तो होते रहते हैं परन्तु एक दूसरे की अपेक्षा नहीं छोड़ते। सापेक्ष रहकर ही कार्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं। हे विमल जिनेन्द्र। आपको इस प्रकार के सापेक्ष नय ही इष्ट हैं निरपेक्ष नहीं ॥ २ ॥

ननु सामान्यविशेषयोः कुतश्चिदपि प्रमाणाद प्रसिद्धेः कथं ते तन्मातृका इत्याशङ्क्याह—

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।
समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्परेत्यादि–परस्परमन्योऽन्यमीक्षा अपेक्षा ययोस्तौ च तौ अन्वयभेदौ च सामान्य विशेषौ तयोर्लिङ्गं ज्ञानं लिङ्ग्येते ज्ञायेते सामान्य विशेषौ येनेति व्युत्पत्तेः तस्मात् ततः। किमित्याह प्रसिद्धेत्यादि–प्रसिद्धौ तौ च सामान्यविशेषौ च। अन्वयलिङ्गतो ह्यभेदज्ञानापर-पर्यायात्सामान्यं प्रसिद्धं, भेदलिङ्गतो भेदज्ञानापराभिधानाद् विशेषः प्रसिद्धः, एवं प्रसिद्धयो-स्तयोः समग्रता सम्पूर्णता एकत्र वस्तुनि कथंचित्तादात्म्येन वर्तमानतास्ति, तव विमलतीर्थंकर देवस्य मते। नन्वेकस्य वस्तुनः सामान्यविशेषरूपताविरोधान्न युक्त्येत्याशङ्क्य तद्विरोधपरि-हारार्थं यथेत्याद्याह–यथा येन प्रकारेण बुद्धिलक्षणं बुद्धिस्वरूपं प्रमाणमेकं स्वपरावभासकं स्वपरप्रकाशधर्मद्वयोपेतं भुवि पृथिव्यां न विरुद्धं तथा वस्त्वप्येकं सामान्यविशेषरूपधर्मद्वया-त्मकं न विरुद्धमिति तथा चैकत्र वस्तुनि विशेषणविशेष्यभावेन प्रवर्तमानौ सामान्यविशेषौ सिद्धौ तन्मातृकाश्च द्रव्यार्थिका दयो नयाः सिद्धाः ॥ ३ ॥

आगे नयों की सामान्य विशेषमातृकता सिद्ध करते हैं–

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यथा) जिस प्रकार (भुवि) पृथिवी पर (स्वपरावभासकं) स्व और पर को प्रकाशित करने वाला (बुद्धिलक्षणं) ज्ञानरूप लक्षण से युक्त (प्रमाणं) प्रमाण प्रसिद्ध है [तथा] उसी प्रकार (तव) आपके मत में (परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद के ज्ञान से (प्रसिद्धसामान्यविशेषयोः) प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की (समग्रता) पूर्णता अस्ति) विद्यमान् है।

भावार्थ—इस श्लोक के पुष्पिकावाक्य में कहा गया है कि सामान्य और विशेष किसी प्रमाण के सिद्ध नहीं है अतः नय सामान्यमातृक और विशेषमातृक कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्का का समाधान करते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में अन्वय—अभेद और भेद—व्यतिरेक का ज्ञान होता है। 'यह वही है–यह वही है' इस प्रकार के अन्वयरूप ज्ञान से पदार्थ में अभेद का ज्ञान होता है और यह दूसरा है–पूर्व पर्याय से भिन्न है इस प्रकार के व्यतिरेकरूप ज्ञान से पदार्थ में भेद का ज्ञान होता है। उक्त अभेद ज्ञान से जान पड़ता है कि पदार्थ सामान्य रूप हैं और भेद ज्ञान से जान पड़ता है कि पदार्थ विशेषरूप है। पदार्थों में पाया जाने वाला यह अभेद और भेद का ज्ञान परस्पर में एक दूसरे कि अपेक्षा अवश्य रखता है क्योंकि पदार्थ न सर्वथा अभेद रूप है और न सर्वथा भेद रूप इस प्रकार पदार्थ की सामान्यरूपता और विशेषरूपता सिद्ध हो चुकने पर नयों की सामान्यमातृकता और विशेषमातृकता अनायास सिद्ध हो जाती है। प्रकृत बात को सिद्ध करने के लिये स्वामी जी ने ज्ञान रूप प्रमाण का दृष्टान्त दिया है। जैन दर्शन में ज्ञान को ही [1]प्रमाण माना है और ज्ञान को स्वपरप्रकाशक स्वीकृत किया गया है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान में स्वप्रकाशत्व ये दो धर्म स्वतः सिद्ध हैं उसी प्रकार पदार्थ में सामान्य रूपता और विशेषरूपता ये दो धर्म स्वतः सिद्ध हैं ॥ ३ ॥

---

१ 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' ॥ १ ॥ परीक्षामुख प्रथमपरिच्छेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं पुनर्विशेष्यं किं वा विशेषणमित्यत्राह–

विशेष्यवाच्यस्य[२] विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

विशेषेत्यादि—विशेष्यं च तद्वाच्यं च विशेष्यवाच्यं यदा सामान्यं वाच्यभूतं तदा विशेषो विशेषणं यदा तु विशेषो वाच्यभूतो विशेष्यस्तदा सामान्यं विशेषणं तस्य विशेषवाच्यस्य विशेषणं भवति । किं तत् ? वचो विशेषणाभिधादि वचनं तद्विशेषणाभिधान द्वारेण तस्य विशेषणम् । अनेक तद्द्वयेन, वस्तु वाचामगोचरम् इति निरस्तम् । कथंभूतं विशेषण मित्याहयत इत्यादि-यतो विशेषणाद्विनियम्यते विशेषेण नियतरूपतयाऽवधार्यते, किं ! विशेष्यं, तद् विशेषणं यथा कृष्णत्वं सर्पस्य । किं विशेष्यमित्याह–विनियम्पते च यत्–यद् विशेष्यं विनियम्यते च शब्द उभयत्र सम्बन्ध्यते । अत्र तयोरित्यादिना परो दूषणमाह–तयोश्चो भयोर्विशेषणविशेण्ययोः सामान्यं सामान्य रूपत्वमतिप्रसज्यते अतिप्रसङ्गवद्भवेत् सर्वोऽपि हि सर्पः कृष्णो भवेदिति विशेषसामान्यमतिप्रसङ्गवद्भवेत्, तथा स सर्पः पृष्ठादिनेव उदरादिनापि कृष्णोभवेदिति विशेषणं सामान्यमतिप्रसङ्गि भवेदिति, अत्रोत्तरमाह–विवक्षितादित्यादि–विवक्षिताद्विशेषणाद्विशेष्याच्च अन्यस्या विवक्षितस्य वर्जनं कुतः स्यादिति हेतोः तथापि स्यात्कृष्णः सर्प इति वाक्ये स्यात्कृष्णः पृष्ठाद्यङ्गेन कृष्णो नोदरादिना । सर्पोऽपि कश्चिदेव कृष्णो न सर्वः शुक्लादेरप्यनिवारणादित्यन्य वर्जनं ते तव मते सुप्रतीतम् ॥४॥

अब विशेष्य और विशेषण का स्वरूप बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (विशेष वाच्यस्य) वाच्यभूत विशेष का [तत्] वह (वचः) वचन (यतः) जिससे (विशेष्यं) विशेष्य (विनियम्यते) नियमित किया जाता है (विशेषणं) विशेषण कहलाता है और (यत्) जो (विनियम्यते) नियमित होता है (तत्) वह (विशेष्यं) विशेष्य कहलाता है (च) और (तयोः) उन विशेषण और विशेष्य में यद्यपि (सामान्य मतिप्रसज्यते) सामान्य का प्रसङ्ग आता है परन्तु (ते) आपके मत में (स्यादिति) कथंचित् अर्थ के वाचक स्यात् पद के द्वारा (विवक्षितात्) विवक्षित विशेषण विशेष्य से (अन्यवर्जनम्) अविवक्षित विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है।

भावार्थ—जिसके द्वारा किसी पदार्थ की विशेषता बतलाई जाती है वह विशेषण कहलाता है

२ विशेष वाच्यस्य (मूले) क. ख.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जिसकी विशेषता बतलाई जाती है वह विशेष्य कहलाता है। जैसे 'कृष्ण सर्प' यहां कृष्ण पद के द्वारा सर्प की विशेषता बतलाई गई है इसलिये कृष्ण विशेषण है और सर्प की विशेषता बतलाई गई है इसलिये सर्प विशेष्य है। यह विशेषण और विशेष्य कहीं सामान्य होता है और कहीं विशेष्य। वक्ता जिसे कहना चाहता है वह विवक्षित होता है और जिसे नहीं कहना चाहता है वह अविवक्षित होता है। स्यात् पद के प्रभाव से विवक्षित का ग्रहण होना है और अविवक्षित का निराकरण होता है ॥ ४ ॥

स्याच्छब्दस्य फलं दर्शयन्नाह—

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ ५ ॥

नया इत्यादि—नया विकलादेशास्तव भगवतो भवन्त्यभिप्रीतगुणाः। कथंभूताः ? स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः स्यादिति पदेन सत्येन लाञ्छिता उपलक्षिताः। दृष्टान्तमाह-रसेत्यादि, इव शब्दो यथार्थे, यथा रसेनोपविद्धा रसानुविद्धा लोहधातवस्ताम्रादिधातवः भवन्त्यभिप्रेतगुणाः अभिप्रेतः साधयितुमिष्टः सुवर्णलक्षणो गुणो धर्मो एषाम्। अयमर्थो—यथा रसोपविद्धा लोहधातवः सुवर्णरूपं फलं साधयन्ति तथा स्यात्पादोपविद्धा नयाः स्वर्गापवर्गादिफलमिति यतस्ते तथाभूतास्तव मते तत्साधयन्ति ततो भवन्तंविमलस्वामिनं आर्या गणधरदेवादयः प्रणता उपनताः हितैषिणो मोक्षाकांक्षिणः ॥५॥

आगे स्यात् शब्द का फल दिखलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यतः) चूंकि (स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः) स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित (तव) आपके (नयाः) नय (रसोपविद्धाः) रस से अनुलिप्त (लोहधातवः इव) लोहधातुओं के समान (अभिप्रेत गुणाः) इष्ट गुणों से युक्त पक्ष में सुवर्णादि इष्ट पदार्थ के गुणों से युक्त (भवन्ति) होते हैं (ततः) इसलिये (हितैषिणः) हित के इच्छुक (आर्याः) गणधर आदि उत्तम पुरुष (भवन्तं) आपके प्रति (प्रणताः) नम्रीभूत हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में स्यात् शब्द की महिमा बतलाते हुए स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! जिस प्रकार पारद आदि रसों के संयोग से लिप्त लोहा तांवा आदि धातुएं सुवर्ण रूप परिणत होकर साधक के मनोरथों को पूर्ण करती हैं उसी प्रकार स्यात्पद रूप परमार्थ से युक्त आपके नय साधक के मनोरथों को पूर्ण करते हैं-स्वर्ग मोक्ष आदि रूप फल को सिद्ध करते हैं। यही कारण है कि आत्महित के इच्छुक उत्तम पुरुष आपको नमस्कार करते हैं। जैनागम में 'स्यात्' इस पद को 'कथंचित्' इस अर्थ का वाचक माना गया है। उसके साथ नयों का प्रयोग करने से 'वस्तु स्यात् नित्यं'—वस्तु किसी अपेक्षा नित्य है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और 'वस्तु स्यात् अनित्यं' —वस्तु किसी अपेक्षा अनित्य है इस तरह विवक्षा भेद से नित्यानित्यात्मक सिद्ध होती है। यह स्यात्पद सत्य रूप है-वस्तु के परमार्थस्वरूप का प्रतिपादक है। इसके बिना नय मिथ्या नय कहलाते हैं और उनसे साधक को इष्टफल की प्राप्ति नहीं होती ॥५॥

इति विमलजिनस्तवनम्

श्री अनन्तजिनस्तवनम्

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥१॥

अनन्तदोषेत्यादि— वंशस्थछन्दः। जितो निर्मूलितः, त्वया, कोऽसौ ? ग्रहः पिशाच-विशेषः, किंविशिष्ट इत्याहअनन्तेत्यादि–अनन्ताश्च ते दोषाश्च रागादय स्तेषा माशय आशेते निवसति रागादिदोषो यस्मिन्नित्याशयस्तदा धारभूतं चित्तं स एव विग्रहः शरीरं यस्य स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूतः ? विषङ्गवान् ममेदं सर्वं स्त्र्यादिक मित्याबन्धो विषङ्गः सोऽस्यास्तीति तद्वान्, यदिवा विषङ्गवान् सम्बन्धवान्, क्व ? हृदि, कथं ? चिरं बहुतरकालं भवति, पुनरपि कथंभूतो ? मोहमयः मोहेन निर्वृत्तो मोहमयो मोहरूप इत्यर्थः, क्व जितो ? हृदि चिदात्मन्यात्मस्वरूपे, किं कुर्वता ? तत्वरूचौ प्रसीदता तत्वानि जीवादीनि तेषु रुचिः श्रद्धानं तस्यां प्रसीदता प्रसन्नेन भवता विपरीताभिनिवेशमलं शोधयतेत्यर्थः, यतो यस्मात्कारणादित्थंभूतो ग्रहस्त्वया जितः ततस्तस्मात्कारणादभूः संजातो भगवाननन्तजिन्नामा तथा ॥ १ ॥

भगवान् के अनन्तजित् नाम की सार्थकता बतलाते हैं--

अन्वयार्थ--(अनन्त दोषाशयविग्रहः) जिसका शरीर अनन्त रागादि दोषों का आधार तथा जो (चिरं) चिर काल से (हृदि) हृदय में (विषङ्गवान्) संलग्न था अथवा ममता भाव से सहित था ! ऐसा (मोहमयः) मोह रूप (ग्रहः) पिशाच (तत्वरुचौ) तत्व श्रद्धा में (प्रसीदता) प्रसन्न रहने वाले (त्वया) आपके द्वारा (यतः) क्योंकि (जितः) जीत लिया गया था (ततः) इसलिये आप (भगवान्) भगवान् (अनन्तजित्) अनन्तजित् इस सार्थक नामको धारण करने वाले (अभूः) हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—यहां चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तजित् के नाम की सार्थकता बतलाते हुए श्री समन्तभद्र-स्वामी लिखते हैं कि हे भगवन्! चूंकि आपने अनादिकाल से हृदय में संलग्न तथा रागद्वेष आदि अनन्त दोषों से युक्त मोह रूपी ग्रह को मिथ्यात्व रूपी पिशाच को जीत लिया है इसलिये 'नास्ति अन्तो यस्य सः अनन्तः संसारस्तस्यकारणात् मिथ्यात्वमप्यनन्त इति कथ्यते तमनन्तं जयति स्मेति अनन्तजित्-जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त है इस तरह अनन्त नाम संसार का है, अनन्त का कारण होने से मिथ्यात्व भी अनन्त कहलाता है ऐसे अनन्त को आपने जीत लिया है' इस व्युत्पत्ति के आधार से आपका 'अनन्तजित्' यह नाम अत्यन्त सार्थक है। यहां मिथ्यात्व में ग्रह का आरोप किया है इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार ग्रह—पिशाच मनुष्य से पृथक् होने पर भी उसे दुखी करता है उसी प्रकार यह मिथ्यात्व शुद्धचैतन्यरूप आत्मद्रव्य से पृथक् होने पर भी विकार्य विकारक भाव के कारण इस जीवको दुखी करता है और जिस प्रकार ग्रह—पिशाच अनेक दोषों का आधार होता है उसी प्रकार यह मिथ्यात्व भी रागादि अनन्त दोषों का आधार है क्योंकि मिथ्यात्व के सद्भाव में ही रागादिदोष वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह मिथ्यात्व रूपी ग्रह आत्मा के साथ चिरकाल से लगा हुआ है और 'स्त्रीपुत्रादिक समस्त पदार्थ मेरे हैं' इस प्रकार के ममताभाव से सहित है। इस मिथ्यात्वरूपी ग्रह को नष्ट करने की प्रक्रिया बतलाते हुए स्वामी ने लिखा है कि हे भगवन् आपने जीवादि तत्वों के श्रद्धान में प्रसन्न होते हुए–विपरीताभिनिवेशरूप मलको दूर करते हुए उस मिथ्यात्वरूप ग्रह को जीता है। तत्वरुचि में प्रसन्नता का प्राप्त होना सम्यग्दर्शन कहलाता है इस सम्यग्दर्शन के द्वारा ही मिथ्यात्वरूपी ग्रह का पराजय होता है। मिथ्यात्व आत्मा का सबसे बलिष्ठ शत्रु है इसको निर्मूल किये बिना इस प्राणी का कल्याण होना दुर्भर है ॥ १ ॥

तथा तज्जयं कुर्वन्नसौ कथंभूतः संजात इत्याह—

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित्।
विशोषणं मन्मथ दुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥२॥

कषायेत्यादि—कषायनाम्नां कषायसंज्ञानां, द्विषतां कथंभूतानां ? प्रमाथिनां प्रमथनशीलानाम्, अशेषयन् निःशेषतः क्षपयन्, किं तत् ? नाम, हृदीत्यनुवर्तते हृदि तेषां नामाप्यशेषयन् भवाननन्तजिदशेषवित् सर्वज्ञः संपन्नः, न केवलं तेषां नामाशेषयन्, व्यलीनयत् द्रवतां नीतवान् विनाशितवानित्यर्थः। कं ? मन्मथ दुर्मदामयं मन्मथः कामस्तस्य दुष्टो मदो दुरभिमानो दर्पः स एवामयो व्याधिस्तं, कथंभूतं ? विशोषणं संतापकं, इत्थभूतं तदामयं कैर्व्यलीनयत् ? समाधिभैषज्यगुणैः समाधिर्ध्यानं स एव भैषज्यमौषधं तस्य गुणास्तदामयोपशमकत्वादयस्तैः ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे कषायरूप शत्रुओं को जीतकर आप सर्वज्ञ हुए यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (प्रमाथिनाम्) दुःख देनेवाले (कषायनाम्नां द्विषताम्) कषाय नामक शत्रुओं के (नाम) नाम को हृदय में (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (अशेषवित्) सर्वज्ञ हुए हैं तथा आपने (समाधिभैषज्यगुणैः) ध्यान रूप औषधि के गुणों के द्वारा (विशोषणं) संताप कारक (मन्मथदुर्मदामयं) कामदेव के दुष्ट दर्प रूपी रोग को (व्यलीनयत्) विलीन किया है–नष्ट किया है।

भावार्थ—आत्मा के शत्रुओं में मिथ्यात्व के वाद कषायों का नाम आता है। ये कषाय रूप शत्रु भी आत्मा को अत्यन्तदुःख देनेवाले हैं। सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्चारित्ररूपी पुरुषार्थ के द्वारा हे भगवन् ! आपने क्रोधादि कषायरूपी शत्रुओं को नष्ट किया और इसतरह नष्ट किया कि हृदय में उनका नाम भी शेष नहीं रहने दिया। इस तरह कषायरूपी शत्रुओं का समूल क्षय कर आप अन्तर्मुहूर्त के भीतर सर्वज्ञ हो गये–चराचरविश्व को जानने लगे। कषायों के समान काम भी अत्यन्त दुःख कारक है इसके दुष्ट दर्प– उद्रेक को आचार्य ने रोग की उपमा दी है, साधारण रोग की नहीं किन्तु अत्यधिक शोषण करने वाले रोग की। इस प्रचण्ड कामोद्रेक रूपी रोग को भी हे भगवन् ! आपने उत्तम ध्यान रूप औषधि के गुणों से विलीन कर दिया है—गलादिया है–नष्ट कर दिया है, इस तरह आप निष्कषाय, निष्काम और सर्वज्ञ हैं ॥२॥

ननु मन्मथदुर्मदामये सति भोगाकांक्षायाः प्रवृत्तेः कथं निराकुलः समाधिर्जातो यतस्तदामयविनाशः स्यादित्याशङ्क्याह —

परिश्रमाम्बुर्भयवीचि मालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य ! शोषिता ।
असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥३॥

परिश्रमेत्यादि---परिश्रमः खेदः स एवाम्बु यस्याः सा परिश्रमाम्बुः, कासौ ? स्वतृष्णासरित् स्वस्य तृष्णा विषयाकांक्षा स्वतृष्णा सैव सरिन्नदी, कथंभूता ? भयवीचि-मालिनी भयान्येव वीचयस्तरङ्गास्तेषां मालाः पङ्क्तयः ता यस्यां सन्ति सा तथोक्ता, सा शोषिता क्षयमुपनीता, केन ? त्वया अनन्तजिता, हे आर्य ! साधो ! केन कृत्वेत्याह-- असङ्गेत्यादि–असङ्गो निःसङ्गता सकलसङ्गाभावः स एव घर्मार्को ज्येष्ठाषाढियादित्यस्तस्य गभस्तयः किरणाः संततनिःसङ्गत्वाभ्यासविवेकोपयोगपरमध्यानादयस्तेषां तेजः प्रतापस्त-च्छोषणे सामर्थ्यं तेन असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा, यत एवं तस्मात्कारणात्परं प्रकृष्टं निर्वृ-तेर्मोक्षस्य धाम अनन्तज्ञानादितेजः तावकं त्वदीयं ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे आपको निर्वाणधाम की प्राप्ति किस तरह हुई यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—(परिश्रमाम्बुः) जिसमें परिश्रम रूप जल भरा है, और (भयवीचिमालिनी) भयरूप तरङ्गों को मालाएं उठ रही हैं, ऐसी (स्वतृष्णासरित्) अपनी भोगाकांक्षारूप नदी (हे आर्य) हे पूज्य (त्वया) आपके द्वारा (असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा) निष्परिग्रहतारूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से (शोषिता) सुखा दी गई है (ततः) इसलिये (परम्) उसके आगे विद्यमान (निर्वृति-धाम) निर्वाणस्थान (तावकम्) आपका ही है अथवा आपका अनन्तज्ञानादितेज अत्यन्त उत्कृष्ट है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिये बीच में पड़ी हुई लहराती नदी बाधा खड़ी कर देती है उसी प्रकार मोक्षरूपी स्थान पर पहुँचने के लिये बीच में पड़ी हुई तृष्णा रूपी नदी बाधा खड़ी करती है। जिस प्रकार नदी में पानी भरा होता है उसी प्रकार इस तृष्णारूपी नदी में परिश्रम रूपी जल भरा हुआ है और जिस प्रकार नदी में लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार इस तृष्णा रूपी नदी में भयरूप लहरें निरन्तर उठा करती हैं। तृष्णा का अर्थ भोगाकांक्षा है इस भोगाकांक्षा की पूर्ति के लिये मनुष्य को रात दिन कठिन परिश्रम करना पडता है तथा किसी कारण हमारे भोग नष्ट न हो जावें इस बात का भय निरन्तर बना रहता है। इस भोगाकांक्षा रूपी नदी को पार करना सरल काम नहीं है परन्तु हे अनन्तजित् ! हे मिथ्यात्व को जीतने वाले अनन्त जिनेन्द्र ! आपने इस तृष्णा रूप नदी को निष्परिग्रहता रूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के प्रचण्डताप से ऐसा सुखा दिया है कि उसमें पानी की एक बूंद भी शेष नहीं रह सकी है अब निर्वाण धाम को प्राप्त करने में बाधा कोन डाल सकता है ? अब तो निर्वाण धाम आपका ही है इसमें संदेह की बात नहीं है। परिग्रह भोगाकांक्षा का नोकर्म है अर्थात् परिग्रह को देख कर भोगाकांक्षा वृद्धि को प्राप्त होती है आपने निर्ग्रन्थमुद्रा धारण कर उस नोकर्म को नष्ट कर दिया है इसलिये भोगाकांक्षा नष्ट हो गई है। संस्कृत टीकाकार ने धाम का अर्थ तेज किया है इसलिये श्लोक का भाव ऐसा होता है कि हे भगवान् (यतः) जिस कारण आपने अपनी तृष्णा नदी को सुखा दिया है (ततः) उस कारण आपका निवृत्ति तेज—अनन्तज्ञानादि तेज उत्कृष्ट है ॥ ३ ॥

ननु भगवान् स्तुतिकारिणे लक्ष्मीं दत्तेऽन्यस्मै च दारिद्र्यमतः कथं वीतरागः कथं वा ईश्वराद्विशिष्यत इत्याशङ्क्याह--

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

सुहृदित्यादि--सुहृद् भक्तिपरः, क्व ? त्वयि, किं करोति ? श्रीसुभगत्वं लक्ष्मीव-ल्लभत्वम्, अश्नुते प्राप्नोति, द्विषन्नभक्तस्त्वयि मिथ्यादृष्टिः प्रत्ययवत् प्रत्ययः क्विप् ज्ञानं वा तद्वत् प्रलीयते विनश्यति नरकादि दुःखमनुभवतीत्यर्थः। भगवान् पुनरुदासीनतमः अति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शयेनोदासीनो मध्यस्थः, तयोरपि द्वयोरपि सुहृद्द्विषितोः। कथं तर्हि परमोदासीनाद्भवतः प्रागुक्तफलसिद्धिरित्याह–प्रभो इत्यादि–हे प्रभो स्वामिन् परं प्रकृष्टं चित्रमाश्चर्यमद्‌भुतं तव ईहितं तव चेष्टितं यदुसानोऽपि चिन्तामणिरिवानन्तफल सम्पत्तिहेतुर्भगवानिति ॥ ४ ॥

अब भगवान् की वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं--

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वयि सुहृद्) आप में उत्तम हृदय को रखने वाला—भक्त पुरुष (श्री सुभगत्वं) लक्ष्मी के वल्लभपने को (अश्नुते) प्राप्त होता है और (त्वयि द्विषन् , आप में द्वेष रखने वाला—अभक्त पुरुष (प्रत्ययवत्) व्याकरण के प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान के समान (प्रलीयते) नष्ट हो जाना है—चतुर्गति के दुःखों का अनुभव करता है परन्तु (भवान्) आप (तयोरपि) उन दोनों—भक्त और अभक्त पुरुषों के विषय में (उदासीनतमः) अत्यन्त उदासीन हैं—रागद्वेष से रहित हैं। (प्रभो) हे स्वामिन् ! (तव) आपकी (इदम् ईहित) यह चेष्टा (परं चित्रम्) अत्यन्त आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—इस श्लोक में अनन्तजित् जिनेन्द्र के वीतराग गुण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! जो आपकी स्तुति करता है वह स्वयं ही अनन्तज्ञानादि आध्यात्मिक, अष्टप्रातिहार्यादि बाह्य तथा धन सम्पदा आदि लौकिक लक्ष्मी का नाथ होता है उसे आप प्रसन्न होकर कुछ देते नहीं हैं। इसी प्रकार जो आपकी निन्दा करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है—नरकादि गतियों के दुःख उठाता फिरता है आप अप्रसन्न होकर उसे कुछ दुःख देते नहीं हैं। परम वीतराग भाव के कारण आप उन दोनों में अत्यन्त उदासीन रहते हैं। हे प्रभो। यह आपका चरित्र अत्यन्त आश्चर्य करने वाला है। ऐसा चरित्र संसार के अन्यरागी द्वेषी देवों में कहां सुलभ है ॥ ४ ॥

स यदि भगवानुदासीनोऽपि स्तुतः स्तोतुः विशिष्ट फल सम्पत्तिहेतुस्तदा भवदीयं माहात्म्यं भवान् किं स्तोतुं समर्थ इत्यत्राह—

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने ।।
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ॥५॥

त्वमीदृश इत्यादि—त्वमनन्तजित्तीर्थंकरदेवः ईदृशोऽनन्तरोक्तप्रकारस्तादृशश्चिरोक्तप्रकारः इति एवं अयं स्तुतिरूपो मम प्रलापलेशः प्रलापस्य यत्किञ्चिद्भाषणस्य लेशो लवः, किं विशिष्टस्य मम ? अल्पमतेर्यथावद्भगवद्गुण परिज्ञानहीनमतेर्यत एव चाल्पमतिरहमतएवायं स्तुत्यंशी मम प्रलापलेशः, हे महामुने ! सकलार्थ प्रत्यक्षवेदिन् !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तर्हि विकलोऽयं भविष्यतीत्यत्राह–अशेषेत्यादि–अशेषं निरवशेषं तच्च तन्माहात्म्यं च गुणोत्कर्षः तदनीरयन्नप्यत्र्रुवन्नप्ययं मम प्रलापलेशः शिवाय मोक्षसुखसंपादननिमित्तं भवति । अत्रैव दृष्टान्तमाह-संस्पर्श इवेत्यादिइव शब्दो यथार्थे, यथा संस्पर्शनः अमृताम्बुधेरमृत समुद्रस्य किञ्चिदप्यत्र्रुवाणस्तत्संस्पर्शनः सुखं संपादयति तथा स्तुति प्रलापलेशोऽपीति ।।५।।

अब भगवान् का अल्प गुण वर्णन भी कल्याण का कारण है यह कहते हैं

अन्वयार्थ--(महामुने !) हे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले मुनि नाथ ! (त्वम्) आप (ईदृशः) ऐसे हैं (तादृशः) वैसे हैं (इति इस प्रकार का (अयं] यह मम अल्पमतेः) मुझ अल्प बुद्धि का (प्रलापलेशः) थोड़ा सा प्रलाप (अशेषमाहात्म्यं) आपकी समस्त महिमा को (अनरियन्नपि) न कहता हुआ भी (अमृताम्बुधेः) सुधासागर के (संस्पर्श इव) समीचीन स्पर्श के समान (शिवाय) मोक्ष के लिये है—मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारण है ।

भावार्थ—भगवान् के समस्त माहात्म्य का स्तुति द्वारा उल्लेख करने में अपनी असमर्थता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! चूंकि मैं अल्पमति हूँ—आपके यथार्थ गुणों के परिज्ञान के रहित बुद्धि का धारक हूँ अतः आपके समस्त माहात्म्य का वर्णन करने में मेरी असमर्थता है। मैं तो आ/की स्तुति के रूप में इतना हो कह सकता हूँ कि आप ऐसे हैं अथवा वैसे हैं । परन्तु मेरी यह श्रद्धा है कि सकल पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञाता होने से आप मेरे हृदय की भावना को अच्छी तरह जानते हैं। न सही मेरे पास विशाल शव्दावली । किन्तु भक्ति से ओत प्रोत हृदय तो है। मेरा यह भक्ति पूर्ण हृदय ही मेरे लिये शिव–मोक्ष का अथवा सांसारिक सुख का कारण है । जिस प्रकार अमृत के समुद्र में अवगाहन करना तो दूर रहा उसका स्पर्श भी आनन्ददायी होता है उसी प्रकार आपकी पूर्ण स्तुति तो दूर रही उसका लेशमात्र भी आनन्ददायी होता है ।।५।।

इति अनन्तजिज्जिनस्तवनम्

श्री धर्मजिनस्तवनम्

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ।। १ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मतीर्थमित्यादि--१रथोद्धताच्छन्दः। धर्मतीर्थं धर्म उत्तमक्षमादिलक्षणो चारित्र लक्षणो वा स एव तीर्थं धर्मस्य वा तीर्थं तत्प्रतिपादक आगमः, कथंभूतं ? अनघमनवद्यं प्रवर्तयन् कुर्वन् भवान् धर्म इत्येव मन्वर्थसंज्ञकोऽनुमतः सतां गणधरदेवादिविपश्चिताम्। अपरमपि किं कृतवान् भवानित्याह-कर्मेत्यादि-कर्माण्येव कक्षं वनमटवी तददहत् दग्धवान् कैः ? तपोऽग्निभिः तपांस्येवाग्नयस्तपोऽग्नयस्तैः ततः किम्। अवाप प्राप्तवान्, किं तत् ? शर्म सुखं, कथंभूतं ? शाश्वत मविनश्वरम्। अतः शङ्करोऽनुमतः सतां भवान् शं सुखमात्मनः कर्मकक्षं दग्ध्वा सकलप्राणिनां च धर्मतीर्थं प्रवर्त्य करोतीति शङ्करः॥ १॥

भगवान् धर्मनाथ नामकी सार्थकता बताते हैं—

अन्वयार्थ--हे भगवन्! (अनघ्यं) निर्दोष (धर्मतीर्थं) धर्म रूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाले आगम की (प्रवर्तयन्) प्रवरताते हुए (भवान्) आप (सतां) गणधरदेवादि विद्वानों के द्वारा (धर्मः) धर्म इस सार्थक नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं। आपने [तपोऽग्निभिः] तप रूपो अग्नियों के द्वारा [कर्मकक्षम्] कर्मरूपी वन को [अदहत्] जलाया है तथा [शाश्वतं] अविनाशी [शर्म] सुख [अवाप] प्राप्त किया है इसलिये आप सत्पुरुषों के द्वारा [शङ्करः] शङ्कर इस नाम से युक्त [अनुमतः] माने गये हैं।

भावार्थ—उत्तम क्षमा आदि को अथवा सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। यह धर्म संसार समुद्र से तरने का साधन होने से तीर्थ कहलाता है। तीर्थ का दूसरा अर्थ आगम भी होता है इस तरह धर्मतीर्थ का अर्थ धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाला आगम होता है। यह धर्म तीर्थ हिंसादि पापों से रहित होने के कारण अनघ–अनवद्य अथवा पूर्वापर विरोध से रहित होने के कारण अनघ–निर्दोष होता है। चूंकि धर्म जिनेन्द्र ने इस धर्मतीर्थ को प्रवर्ताया था इसलिये गणधरादि सत्पुरुष उनके 'धर्म' इस नाम को सार्थक मानते हैं। धर्म जिनेन्द्र का एक नाम शङ्कर भी माना गया है सो वह भी सार्थक है क्योंकि जिस प्रकार शङ्कर—रुद्र ने अग्नि के द्वारा त्रिपुर को दग्ध किया था उसी प्रकार धर्म जिनेन्द्र ने भी तपरूपी अग्नियों के द्वारा कर्मरूपी वन को दग्ध किया है। तथा अविनाशी शं—सुख को स्वयं प्राप्त किया है और धर्मतीर्थ को प्रवृत्त कर सकल प्राणियों को शं–सुख प्राप्त कराया है॥ १॥

स इत्थंभूतो भगवान् किं कृतवानित्याह-

देवमानवनिकायसत्तमैरेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः॥ २॥

१ 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' जिसके प्रत्येक चरण में रगण, नगण और रगण तथा एक लघु और एक गुरु हो उसे रथोद्धता छन्द कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवमानवेत्यादि—रेजिषे शोभितवान्, किंविशिष्ट इत्याह—परिवृतो वेष्टितः, कैः ? देवमानवनिकायसत्तमैः देवाश्च मानवाश्च तेषां निकायाः समूहास्तेषु सत्तमा अतिशयेन प्रशस्ता भव्या इत्यर्थः तैः । न केवलं तैः परिवृतः किन्तु बुधैः पण्डितैः गणधरदेवादिभिर्वृतः परिवारितः । क इव किं विशिष्टः क्वेत्याह—तारकेत्यादिशशलाञ्छन इव चन्द्र इव, किंविशिष्टः ? तारकापरिवृतः तारकाभिः परि समन्ताद् वृतो वेष्टितः, पुनरपि कथंभूतः ? अतिपुष्कलः संपूर्णः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अमलो न विद्यते घनपटलादिर्मलो यस्य, क्व ? व्योमनि गगने ॥ २ ॥

अब ऐसे भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे धर्मजिन ! [देवमानवनिकायसत्तमैः] देव समूह और मनुष्य समूह में अत्यन्त श्रेष्ठ भव्य जीवों के द्वारा [परिवृत.] चारों ओर से वेष्टित तथा [बुधैः] गणधरादि विद्वानों से [वृतः] घिरे हुए आप [व्योमनि] आकाश में [तारकापरिवृतः] ताराओं से परिवेष्टित [अमलः] घनपटलादि मल से रहित [अतिपुष्कलः] संपूर्ण [शशलाञ्छन इव] चन्द्रमा के समान [रेजिषे] सुशोभित हुए थे ।

भावार्थ—धर्मजिनेन्द्र का स्तवन करते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि चारघातिया कर्मों का क्षय कर धर्मजिनेन्द्र समवसरण के मध्य में निर्मित गन्धकुटी में सिंहासनारूढ हैं । गन्धकुटी को घेर कर बारह सभाओं की रचना है जिनमें देव मनुष्यों के समूह में श्रेष्ठतम भव्य प्राणी बैठे हुए हैं । मनुष्यों की सभा में गणधरादि विद्वान् भी बैठे हुए हैं इन सबसे वेष्टित धर्म जिनेन्द्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि आकाश में ताराओं से घिरा हुआ निर्मल पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ।। २ ।।

ननु सिंहासनादि विभूतिसद्भावात्कथं भगवतो वीतरागता यतो हरिहरादेर्विशेषः स्यादित्यत्राह—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ३ ॥

प्रातिहार्येत्यादि—प्रातिहार्याणि च सिंहासनादीन्यष्टौ विभवश्च समवसरणादिविभूतयस्तैः परिष्कृतः परिवृतः देहतोऽपि न केवलं सिंहासनादिभ्यो विरतो विगतममत्वे वीतराग इत्यर्थः भवान् धर्मतीर्थंकरदेवः अभूत् संजातः । इत्थंभूतोऽपि भगवान् तीर्थकरत्व पुण्यातिशयवशान्मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणम्, अशिषत् व्युत्पादितवान्, कान ? नरामरान् नराश्चामराश्च तान् । किं तदुपदेशने फलमित्याह—नापीत्यादि — नापि नैव, शिष्यन्ते मोक्षमार्गं व्युत्पाद्यन्ते येन तच्छासनं वर्तनं तस्य फलं तस्य एषणा इच्छा तस्यामातुर आदरपरः ।। ३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब सिंहासनादि विभूति के रहते हुए भी भगवान् के वीतरागता है यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (प्रातिहार्यविभवैः) सिंहासनादि प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से (परिष्कृतः) विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे किन्तु (देहतोऽपि) शरीर से भी (विरतः) ममत्व रहित (अभूत्) थे तथा आपने (नरामरान्) मनुष्यों और देवों को (मोक्षमार्गम्) मोक्षमार्ग का (अशिषत) उपदेश दिया था फिर भी आप [शासनफलैषणातुरः] उपदेश के फल की इच्छा से आतुर-व्यग्र (नापि अभूत्) नहीं हुए थे।

भावार्थ—समवसरण में धर्मजिनेन्द्र यद्यपि छत्रत्रय, चौंसठ चमर, सिंहासन, भामण्डल, अशोक-वृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन आठ प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से सुशोभित थे तथापि परमवीतराग होनेसे उन्हें इन सब से कुछ भी रागभाव नहीं था। अथवा इनकी बात दूर रहे शरीर से भी उन्हें कुछ राग नहीं था, उससे भी वे पूर्ण विरक्त थे। राग की जड़ शरीर के राग में है क्योंकि शरीर के राग से ही अन्य वस्तुओं का राग बढ़ता है। धर्मजिनेन्द्र जब शरीर से भी विरक्त हो चुके थे तब अन्य पदार्थों में उनका राग भाव कैसे विस्तृत हो सकता था ? पूर्वसंचित भाषावर्गणा के परमाणु समय पाकर खिरते थे उससे वे यद्यपि देव और मनुष्यों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देते थे परन्तु उपदेश देने में उनकी इच्छा नहीं रहती थी। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है तथा उसका क्षय दशमगुणस्थान में ही हो चुकता है अतः धर्मजिनेन्द्र के उपदेश देने की इच्छा का अभाव था। जो मनुष्य किसी खास इच्छा से प्रेरित होकर उपदेश देता है वह उपदेश के फल की इच्छा से निरन्तर व्यग्र रहता है परन्तु धर्मजिनेन्द्र चूंकि इच्छा के विना ही उपदेश देते थे इसलिये उन्हें उपदेश सम्बन्धी फल की रञ्चमात्र भी इच्छा नहीं रहती थी और न उस इच्छा जन्य व्यग्रता ही कभी उन्हें दुखी करती थी।

यदि शासनफलैषणातुरो न भवति भवान् किमर्थं तर्हि विहरणादिक मित्यत्राह—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥

कायेत्यादि—कायश्च वाक्यं च मनश्च तेषां प्रवृत्तयश्चेष्टाः नाभवन् न संजाताः, कया ? चिकीर्षया कर्तुमिच्छया। तर्हि असमीक्ष्यकारित्वं भवतः स्यादित्यत्राह—नेत्यादि—नासमीक्ष्य न—वस्तुस्वरूपं यथावदज्ञात्वा भवतः प्रवृत्तयः कायादिचेष्टाः। हे धीर ! परीषहादिभ्यः परप्रश्नादिभ्यश्चाक्षुमितचित्त ! तावकं त्वदीयमचिन्त्यमद्भुतमीहितं चेष्टितं तीर्थकरत्वनामकर्मोदयात् भव्य प्राण्यदृष्टविशेषवशाच्च सर्वमेतद्भवतीत्यर्थः ॥४॥

अब इच्छा के विना भगवान् का विहार आदि होता है यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (तव) आप (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी के (कायवाक्यमनसां) काय वचन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और मन की (प्रवृत्तय:) चेष्टाएं (चिकीर्षया) करने की इच्छा से (न अभवन्) नहीं हुई तथा (भवत:) आपकी (प्रवृत्तय:) प्रवृत्तियां—चेष्टाऐं (असमीक्ष्य) वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना (न अभवन्) नहीं हुईं। (हे धीर) परीषहादिक तथा अन्यमतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले हे धीर वीर धर्मजिनेन्द्र ! (तावकं) आपका (ईहितं) चरित (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय है आश्चर्य करने वाला है।

भावार्थ—प्रश्न यह था कि हे भगवन् ! जब आपको उपदेश के फल की इच्छा नहीं है तब आपका विहार तथा दिव्यध्वनि का खिरना आदि कार्य क्यों होते हैं ? इस श्लोक में उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि हे धर्मजिनेन्द्र ! आपके शरीर की प्रवृत्ति अर्थात् विहार आदि, वचन की प्रवृत्ति अर्थात् उपदेश और मन की प्रवृत्ति अर्थात् वस्तुस्वरूप का चिन्तन आदि कार्य इच्छा पूर्वक नहीं होते क्योंकि इच्छा को उत्पन्न करने वाला मोह कर्म पहले ही नष्ट हो चुका है। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि आपके विहार आदि कार्य विचार पूर्वक—इच्छापूर्वक नहीं होते हैं तो फिर क्या विना विचार किये होते हैं ? अविचारित कार्य तो प्रशस्त नहीं होते ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि हे भगवन् ! आपकी सब चेष्टाएं असमीक्ष्यकारी नहीं हैं—अविचारितरम्य नहीं हैं किन्तु सुविचारित ही हैं यथार्थ में आपका चरित्र ही अचिन्त्य है—विरोध से युक्त होने के कारण उसका यथार्थ विचार नहीं किया जा सकता। आपके विहार आदि की क्रियाएं तीर्थंकर नाम कर्म तथा प्राणियों के अदृष्ट—भाग्य के अनुसार होती हैं ।।४।।

नचान्यमनुष्याणां कायादिप्रवृत्तयश्चिकीर्षापूर्विका दृष्टा अतो भगवतोऽपि तास्तत्पूर्विका एव युक्ता इत्यभिधातव्यं यत:—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत: ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद न: ।।५।।

मानुषीमित्यादि—मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् मनुष्याणामियं मानुषी तां, प्रकृतिं स्वभावम्, अभ्यतीतवान् अतिक्रान्तवान्, कुतस्तामभ्यतीतवान् भवानिति चेत् ? नित्यनि:स्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौर रुधिरवत्त्वमित्यादिस्वभावत्वात्। न केवलमेतस्मात्कारणात्, देवतास्वपि च देवता यत: ततो मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि चन्द्रेन्द्रादिष्वपि च न केवलं मनुष्येषु देवता पूज्यो यत: तेन कारणेन तत्प्रकृतिमभ्यतीतत्वेन देवतात्वेन च हे नाथ असि भवसि परमा उत्कृष्टदेवता पूज्यतमो भवसीत्यर्थ:। इत्थंभूतस्त्वं हे जिनवृष ! देशजिनानां गणधरदेवादीनां वृष उत्कृष्ट, प्रसीद प्रसन्नो भव, नोऽस्माकं, किमर्थं ? श्रेयसे मोक्षाय, मोक्षप्रदोऽस्माकं भवेत्यर्थ: ।।५।।

आगे भगवान् की लोकोत्तर प्रकृति का वर्णन करते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यतः) चूंकि आप (मानुषीं प्रकृतिं) मानव स्वभाव को अतिक्रान्त कर गये हैं (च) और (देवतास्वपि) इन्द्र चन्द्र आदि देवों में भी (देवता) देवता हैं, पूज्य हैं (तेन) इसलिये (हे नाथ) हे स्वामिन् ! आप (परमा देवता असि) उत्कृष्ट देवता हैं (हे जिनवृष) हे जिनेन्द्र ! (नः) हमारे (श्रेयसे) कल्याण के लिये (प्रसीद) प्रसन्न हूजिये ।

भावार्थ—यद्यपि धर्मजिनेन्द्र मनुष्यगति में उत्पन्न होने से मनुष्य थे तथापि उनका शरीर निरन्तर पसीना से रहित था, मलमूत्र से रहित था और दूध के समान सफेद रुधिर से युक्त था इस तरह वे मानवीय स्वभाव का उल्लङ्घन कर चुके थे । इतना ही नहीं वे इन्द्र चन्द्र आदि देवताओं में भी देवता थे—पूज्य थे इसलिये अन्य मनुष्यों के समान उनकी प्रवृत्तियां भी इच्छापूर्वक ही होना चाहिये यह आवश्यक नहीं है । अन्य मनुष्यों तथा देवों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती । उनसे तो सर्वस्व समर्पण के रूप में यही कहा जा सकता है कि हे नाथ ! हे गणधरादि देशजिनों में प्रधान ! धर्मजिनेन्द्र ! आप हमारे कल्याण के लिये हम पर प्रसन्न हूजिये—आप हमारे लिये मोक्षप्रदाता हूजिये ॥५॥

इति धर्मजिनस्तवनम्

श्री शान्तिजिनस्तवनम्

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥१॥

विधाय रक्षामित्यदि—उपजातिच्छन्दः । विधाय कृत्वा, कां ? रक्षां पालनं, कासां ? प्रजानां, केभ्यः ? परतः परेभ्यः शत्रुभ्यः, चिरं बहुतरं कालं, राजा सन् यः शान्तिजिनः, अप्रतिमप्रतापोऽतुल्यविक्रमः, एतत्कृत्वा पुनः किं कृतवानित्याहव्यधादित्यादि—व्यधात्कृतवान्, काम् ? अघशान्तिम् अघस्य पापस्य शान्तिमुपशमं प्रजानामात्मनश्च, कदा ? पुरस्तात् पश्चात्, कोऽसौ ? शान्तिः शान्तिनामा जिनः, कथंभूतो ? दयामूर्तिरिव दयायाः कृपाया मूर्तिरिव शरीरमिव, पुनरपि कथंभूतो ? मुनिर्निखिलार्थसाक्षात्कारी, कथं तां व्यधात् ? स्वत एव स्वयमेव न परतः ॥१॥

भगवान् ने पापों की शान्ति कर स्वयं शान्तिनाथ हुए यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जो शान्तिजिनेन्द्र (परतः) शत्रुओं से (प्रजानां) प्रजाजनों की (रक्षां विधाय) रक्षा कर [चिरं] चिरकाल तक पहले [अप्रतिम प्रतापः] अतुल्य पराक्रमी [राजा] राजा हुए और [पुरस्तात्] फिर [स्वत एव] स्वयं ही [मुनिः] मुनि होकर जिन्होंने [दयामूर्तिरिव]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दया की मूर्ति की तरह [अघशान्ति] पापों की शान्ति [व्यधात्] की ॥१॥

भावार्थ—सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान् पहले अतुल्यपराक्रम के धारक राजा थे, राजा ही नहीं चक्रवर्ती थे उस समय उन्होंने चिरकाल तक शत्रुओं से प्रजाजनों की रक्षा की और बाद में दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं ही संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो मुनि हो गये। उस समय वे अपनी दयालुवृत्ति से ऐसे जान पड़ते थे मानों दया की मूर्ति ही हों। मुनि होकर उन्होंने पापों की शान्ति की। इस श्लोक में समन्तभद्रस्वामी ने शान्तिनाथ भगवान् की राज्य अवस्था तथा मुनि अवस्था का तुलनात्मक वर्णन किया है। वे राज्य अवस्था में इतने अधिक पराक्रमी तथा उग्रप्रकृति के थे कि उन्होंने शत्रुओं से लोहा लेकर प्रजाजनों की रक्षा की थी परन्तु आगे चलकर वे स्वयं ही मुनि हो गये और इतने दयालु हो गये कि देखने वाले उन्हें दया की मूर्ति ही समझने लगे थे। मुनि अवस्था में उन्होंने पापों का शमन कर आत्मा को अतिशय निर्मल बनाया था ॥१॥

राज्यावस्थायामेतत्कृत्वा वीतरागावस्थामेतत्कृतं भगवतेत्यत्राह—

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृपः सर्व नरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥ २ ॥

चक्रेणेत्यादि—चक्रेण रथाङ्गेन, कथंभूतेन ? शत्रुभयंकरेण शत्रूणां भयंङ्करं भयजनकं तेन, यः शान्तिजिन गृहस्थावस्थायां जित्वाऽभिभूय नृपश्चक्रवर्ती संजातः किं तज्जित्वा ? सर्वनरेन्द्रचक्रं सर्वे च ते नरेन्द्राश्च राजानः स्तेषां चक्रं समूहं। वीतरागावस्थायां किं कृतवानित्याह–समाधीत्यादि–समाधिर्ध्यानं तस्य चक्रं समूहः धर्म्यं शुक्लध्यान प्रपञ्चरूपस्तेन, पुनः पश्चात्, जिगाय जितवान्, किं तत् ? दुर्जयमोहचक्रं दुर्जयश्चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म तस्य चक्रं मूलोत्तर प्रकृतिभेदप्रपञ्चं, किं विशिष्टो भगवान् ? महोदयो महानुदयो गर्भावतरणादिकल्याणपरम्परा यस्य सः ॥ २ ॥

अब भगवान् के राज्य अवस्था और वीतराग अवस्था के कार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(महोदयः) गर्भावतरण आदि कल्याणकों की परम्परा से युक्त (यः) जो शान्ति जिनेन्द्र गृहस्थावस्था में (शत्रुभयंकरेण) शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले (चक्रेण) सुदर्शन चक्र के द्वारा (सर्वनरेन्द्रचक्रं) समस्त राजाओं के समूह को (जित्वा) जीतकर (नृपः) चक्रवर्ती हुए और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में जिन्होंने (समाधिचक्रेण) ध्यानरूप चक्र के द्वारा (दुर्जयमोहचक्रं) कठिनाई से जीतने योग्य मोहनीय कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियों के समूह को (जिगाय) जीता था ॥ २ ॥

भावार्थ—शान्तिनाथ भगवान् तीर्थंकर होने के साथ पञ्चम चक्रवर्ती भी थे। चक्रवर्ती पद के कारण उन्हें एक हजार देवों से सुरक्षित सुदर्शन नामका चक्ररत्न प्राप्त हुआ था। यह चक्ररत्न समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाला था, इसके द्वारा उन्होंने आपने आश्रित बत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजाओं को जीतकर अपने आधीन किया था। इस तरह इनकी गृहस्थ अवस्था महान् अभ्युदय से युक्त थी। गृहस्थ अवस्था के पश्चात् जब इन्होने वीतराग दशा—दिगम्बर मुद्रा धारण की, तब शुक्लध्यान रूपी चक्ररत्न के द्वारा उन्होंने दुःख से जीतने योग्य मोहनीय कर्म की समस्त मूलोत्तर प्रकृत्तियों के समूह को जीत लिया तथा अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान आदि महान् अभ्युदय को प्राप्त किया, यहां ऐसे ही शान्ति जिनेन्द्र का स्तवन किया गया है ॥ २ ॥

सरागावस्थायां वीतरागावस्थायाञ्च भगवानित्थंभूतया लक्ष्म्या शोभितवानित्याह—

राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्य लक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदार सभे रराज ॥ ३ ॥

राजश्रियेत्यादि—राज्ञः श्रीर्लक्ष्मीः राजश्रीस्तया, राजसु नृपतिषु मध्ये, यः शान्तिराजो, रराज शोभितवान्, किंविशिष्टो ? राजसिंहो राज्ञां सिंहो राजसिंहः प्रधानः, पुनरपि किंविशिष्टो ? राजसुभोगतन्त्रः राज्ञां ये शोभना भोगास्तेषां तन्त्र आयत्तः, ते वा तन्त्रा आयत्ता यस्य, पुनः पश्चाद् परमवीतरागावस्थाया मार्हन्त्यलक्ष्म्या अष्टमहाप्रतिहार्याद्यनन्तज्ञानादिलक्षणया, रराजेति सम्बन्धः, कथंभूतः ? आत्मतन्त्रः स्वरूपायत्तः, क्व रराजेत्याह—देवेत्यादि—देवश्च असुराश्च देवासुराः, उदारा महती समवसरणवर्तिनी सभा उदारसभा, देवासुराणामुदारसभा देवासुरोदारसभं तस्मिन्, 'सभाराज मनुष्याद्' इति नपुंसकता ।३।

अब भगवान् की सराग और वीतरागता अवस्था के कार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(राजसिंहः) राजाओं में श्रेष्ठ तथा (राजसुभोगतन्त्रः) राजाओं के उत्तम भोगों के आधीन अथवा राजाओं के उत्तम को स्वाधीन रखने वाले (यः) जो शान्ति जिनेन्द्र सराग अवस्था में (राजसु) राजाओं के बीच (राजश्रिया) नौनिधि तथा चौदह रत्नों से युक्त राजलक्ष्मी के द्वारा (रराज) सुशोभित हुए थे और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में (आत्मतन्त्रः) आत्माधीन होते हुए (देवासुरोदारसमे) देव और धरणेन्द्रादिकों की महती सभा में (अर्हन्त्यलक्ष्म्या) अष्ट प्रतिहार्य रूप वाह्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग विभूति से (रराज) सुशोभित हुए थे।

भावार्थ—भगवान् शान्तिनाथ साधारण राजा नहीं थे, किन्तु राजसिंह थे—राजाओं में अतिशय श्रेष्ठ चक्रवर्ती थे, राजाओं के उत्तमोत्तम—१ भाजन २ भोजन ३ शय्या ४ सेना ५ मान ६ आसन ७ निधि ८ रत्न ९ नगर और १० नाट्य—इन दश प्रकार के भोगों से युक्त थे* और बत्तीस हजार मुकुट

*भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् ।
निधी रत्नं पुरं नाट्यमिति भोगान्दशान्वभूत् ॥ उ. पु. ५४ । ११९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बद्ध राजाओं के बीच चक्रवर्ती की राजलक्ष्मी–नौ निधि तथा चौदह रत्नों से अत्यन्त सुशोभित होते थे। वही शान्तिनाथ जिनेन्द्र जब शुक्लध्यान के द्वारा घातिचतुष्क को नष्ट कर जब अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए तब पूर्ण आत्माधीन हो गये–अब उन्हें शरीर की स्थिरता के लिये भोजन की भी परतन्त्रता शेष नही रह गई थी, अष्टप्रतिहार्य तथा अनन्त ज्ञानादि रूपी लक्ष्मी उनकी चेरी हो गई कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना की गई उसकी बारह सभाओं में मनुष्यों तथा एक तिर्यञ्चों की सभा को छोड़ कर शेष दश सभाएं देव और असुरों–भवनत्रिक देवों की थी उन सब की विशाल सभा में शान्तिजिनेन्द्र अर्हन्त्य लक्ष्मी से अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे॥ ३॥

अपरमपि सराग वीतरागावस्थायां किं किं संजातमित्याह–

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम्।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम्॥ ४॥

यस्मिन्निति––यस्मिन् शान्तिनाथे राजनि सति राजचक्रं नृपतिसंघातः प्राञ्जलि, बद्धाञ्जलि, अभूत् संजातम्। मुनौ यतौ धर्मचक्रं धर्मश्चारित्रमुत्तमक्षमादिलक्षणो वा तस्य चक्रं समूहः प्राञ्जलि आत्मायत्तमभूत्, कथंभूतं ? दयादीधिति दया एव दीधितयः किरणा यस्य; दयायाः वा दीधितिः प्रकाशो यत्र। यदि वा मुनौ सकलार्थसाक्षात्कारिणि समुत्पन्न-केवलज्ञानेसति धर्मचक्रं भगवतोऽग्रेसरं रथाङ्गं प्राज्जलि आत्माधीनमभूत्। पूज्ये समवस-रणस्थिते धर्मोपदेशके सति मुहुः पुनः पुनः प्राज्जलि प्रबद्धाञ्जलि देवचक्रमिन्द्रादिदेव-संघातोऽभूत्। ध्योनोन्मुखे ध्यानस्य व्युपरत क्रियानिर्वर्तिलक्षणस्यायोगचरमवर्तिन उन्मुखे सति, ध्वंसि विध्वंति विध्वंसनशीलं, कृतान्तचक्रं कर्मचक्रं, प्राज्जलि अभूत्॥ ४॥

सराग और बीतराग अवस्था में और क्या हुआ यह कहते है–

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिन शान्तिनाथ भगवान् के (राजनि 'सति') राजा होने पर (राज चक्रं) राजाओं का समूह (प्राज्जलि) बद्धाज्जलि (अभुत्) हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ 'सति') मुनि होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त अथवा दया को प्रकाशित करने वाला (धर्म चक्रं) उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह (प्राज्जलि) अपने आधीन हुआ था अथवा जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ) समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवल ज्ञानी होने पर (दया-दीधिति) दया रूप किरणों से युक्त (धर्मचक्रं) देवरचित धर्मचक्र (प्राज्जलि) अपने आधीन हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (पुज्ये) पूज्य होने पर–समवसरण में स्थित होकर धर्मोपदेशक होने पर (देवचक्रं) देवों का समूह (मुहुः) वारवार (प्राज्जलि) बद्धाज्जलि हुआ था और जिन शान्ति-नाथ भगवान् के (ध्यानोन्मुखे) व्युपरतक्रियानिर्वर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख होने पर (ध्वंसि) क्षय को प्राप्त होना हुआ (कृतान्त चक्रं) कर्मो का समूह (प्राज्जलि) शरण की भिक्षा के लिये बद्धाज्जलि हुआ था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—इस श्लोक में शान्ति जिनेन्द्र की गृहस्थावस्था से लेकर मुक्ति प्राप्त करने के योग्य अयोग केवली गुणस्थान के चरम समय तक की अवस्थाओं तथा उनकी महिमाओं का वर्णन किया गया है। गृहस्थावस्था में जब वे राजा थे–चक्रवर्ती थे तव समस्त राजाओं का समूह उनके प्रभाव से उपनत होकर हाथ जोड़े हुए उनके आदेश की प्रतीक्षा में तत्पर रहता था। जव गृह त्याग कर मुनि हुए तब उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह दया को प्रकाशित करता हुआ उनके स्वाधीन हुआ। अथवा जब चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञानी हुए तब विहार काल में आगे आगे चलने वाला धर्म-चक्र-देवरचित एक अतिशय विशेष उनके आधीन हुआ। सब समवसरण में सिंहासन पर अन्तरीक्ष विराजमान होकर पूज्य हुए तथा दिव्यध्वनि के द्वारा धर्मोपदेश करने लगे तव चतुर्णिकाय के देवों का समूह उनके उपदेश से गद्गद होकर वारवार हाथ जोड़ने लगता था। तथा जब अयोग केवली नामक चतुर्दशगुणस्थान में व्युपरत क्रिया निर्वति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख हुए तब सत्ता में स्थित पचासी कर्म प्रकृतियों का समूह नाशोन्मुख होता हुआ 'रक्ष मां, रक्ष मां' की आवाज लगाता हुआ हाथ जोड़ने लगा अथवा मृत्यु रूपी यमराज का चक्र नष्ट होता हुआ उनके स्वाधीन हो गया–मुक्ति को प्राप्त होकर उन्होंने सदा के लिये मृत्यु पर विजय प्राप्त करली ॥ ४ ॥

स्तोता स्तुतेः फलं याचमान आह—

स्वदोषशान्त्यावहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणंगतानाम् ।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥५॥

स्वदोषेत्यादि—स्वस्य दोषा रागादयस्तेषां शान्त्या प्रक्षयेण विहितात्मशान्ति विहिता कृता आत्मनः शांतिरनन्तसुख–प्राप्तिरूपा येन, एवंविधायाः शान्तेर्विधाता कर्ता, केषां ? शरणं गतानां संसारमहार्णवोत्तरणार्थमुपगतानां, इत्थंभूतः शान्तिर्जिनो भूयादस्तु, किमर्थं ? भवक्लेशभयोपशान्त्यै भवश्च संसारक्लेशाश्च दुःखानि भयानि च त्रासास्तेषामुपशान्तिरुपशमनं प्रक्षय इत्यर्थं तस्मै, कस्य ? मे मम स्तुतिकर्तुः, किंविशिष्टः शान्ति ? जिनः कर्मारातिजेता, पुनरपि किंविशिष्टः ? भगवान् विशिष्टज्ञानवान् इन्द्रादीनां पूज्यो वा, पुनरपि किंविशिष्टः ? शरण्यः शरणेषु साधुः शरण्यः त्राता इत्यर्थः ॥५॥

आगे स्तुति कर्ता स्तुति से फल की याचना करता हुआ कहता है—

अन्वयार्थ—(स्वदोषशान्त्या) अपने रागादि दोषों की शान्ति से (विहितात्मशान्तिः) जिन्हें आत्मशान्ति की प्राप्ति हुई है, जो (शरणं गतानां) शरण में आये हुए जीवों को (शान्तेर्विधाता) शान्ति के करने वाले हैं, जो (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, (भगवान्) विशिष्टज्ञान अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित हैं तथा (शरण्यः) शरण देने में निपुण हैं (सः) वे (शान्तिः) शान्तिनाथ जिनेन्द्र (मे) मेरे (भवक्लेशभयोपशान्त्यै) संसारपरिभ्रमण, क्लेशों और भयों की शान्ति के लिये (भूयाद) हों ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—इस श्लोक में शान्तिजिनेन्द्र से शान्ति की कामना करते हुए समन्तभद्रस्वामी ने उनका जो वर्णन किया है वह बहुत ही मार्मिक है। जब तक मनुष्य अपने दोषों को शान्त नहीं कर लेता तब तक उसे आत्मशान्ति प्राप्त नहीं होती और जब तक स्वयं आत्मशान्ति प्राप्त नहीं होती तब तक वह शरणागत मनुष्यों को शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता। इस युक्तिसंगत क्रम को दृष्टिगत रखते हुए स्वामी ने शान्ति नाथ भगवान् की सबसे पहले यही विशेषता बतलाई है कि अपने रागादि दोषों को शान्त करने से उन्हें आत्म शान्ति प्राप्त हुई थी और उसके फलस्वरूप वे शरणागत प्राणियों को शान्ति के विधाता थे–शान्ति उत्पन्न करने वाले थे। रागादि विकारी भावों के दूर हो जाने पर यह मनुष्य कर्मशत्रुओं को जीतता है इसलिये उसके वाद शान्तिनाथ भगवान् को जिन कहा है—कर्मशत्रुओं का विजेता कहा है जो मोह आदि प्रबल कर्मशत्रुओं को जीत चुकता है वही भगवान् वनता है—अनन्तज्ञान अथवा अष्ट प्रातिहार्य रूप लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित होता है इसलिये जिन होने के साथ साथ उन्हें भगवान्–अनन्त-ज्ञानवान् अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्यवान् कहा है। ऐसी महिमा से युक्त जिनेन्द्र जहां विराजमान होते हैं वहां अभय का वातावरण रहता है—अदया का भाव दूर हो जाता है–कोई किसी को दुखी नहीं करता–सबको रक्षा प्राप्त होती है इसलिये शान्तिजिनेन्द्र को शरण्य–शरणेसाधुः—रक्षा करने में निपुण कहा है। इन सब विशेषणों से विशिष्ट शान्तिनाथ जिनेन्द्र से समन्तभद्रस्वामी स्तुति के फलस्वरूप यही याचना करते हैं कि वे भगवान् मेरे भवपरिभ्रमण, क्लेशों तथा भयोंकी शान्ति करने वाले हों अथवा भव—जन्म सम्वन्धी क्लेशों–दुःखों के भयों की शान्ति के लिये हों। शान्तिजिनेन्द्र की स्तुति के फल-स्वरूप मैं जन्म सम्बन्धी क्लेशों से छूट जाऊं–अब मुझे जन्म धारण न करना पड़े–मुक्ति की प्राप्ति हो जावे ॥५॥

इति शान्तिजिनस्तवनम्

श्री कुन्थुजिनस्तवनम्

कुन्थुप्रभृत्यखिल सत्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसिस्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः॥

कुन्थुप्रभृतीत्यादि–१वसन्ततिलकाछन्दः। कुन्थुः सूक्ष्मप्राणी स प्रभृतिरादिर्येषांम-खिलसत्वानां ते तथोक्तास्तेषु दया करुणा तस्या एकः प्रधानभूतस्तानोऽनन्तो विस्तार आमुक्ते र्यस्य स तथोक्तः, कोऽसौ ? कुन्थुर्जिनः, त्वं किं कृतवान् ? वर्तयसि स्म प्रवर्तितवान्, किं तत् ? धर्मचक्रं धर्मसंघातं, क्व ? इह लोके, किमर्थं ? भूत्यै मोक्षलक्ष्म्यै, कथं-

१ ज्ञेया वसन्ततिलका तभजाजगौगः, जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु हों उसे वसन्ततिलका कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतायै ? ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ज्वर इत्युपलक्षणं सकलव्याधीनां ज्वरश्च जरा च मरणं च तेषामुपशान्तिर्विनाशो यस्यां तस्यै, किं कृत्वा ? भूत्वा, कथंभूतोभूत्वा ? क्षितिपतीश्वर चक्रपाणिः चक्रं पाणौ यस्यासौ चक्रपाणिः क्षितिपतीनामीश्वरः क्षितिपतीश्वरः स चासौ चक्रपाणिश्च चक्रवर्ती भूत्वेत्यर्थः, कदा ? पुरा पूर्वं, किमर्थं तथाविधोभूतोऽयं ? भूत्यै राज्यविभूतिनिमित्तं, भूत्यै इत्येतत्संबद्धं सकलन्यायेन पूर्वत्र इह चाभिसंबन्ध्यते ।।१।।

अन्वयार्थ—(कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्वदयैकतानः) कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक–मुख्य विस्तार करने वाले (कुन्थुः जिनः) कुन्थु नाथ जिनेन्द्र थे। हे भगवन् (त्वं) आपने (पुरा) पहले गृहस्थावस्था में भूत्यै) राजविभूति के निमित्त (क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः) राजाधिराज चक्रवर्ती (भूत्वा) होकर पश्चात् (इह) इस संसारमें (ज्वरजरामरणोपशान्त्यै) समस्तरोग, बुढ़ापा और मरण के विनाश से युक्त (भूत्यै , मोक्ष मक्ष्मी के लिये (धर्मचक्रं) धर्म के समूह को अथवा देवरचित धर्मचक्रनामक अतिशय विशेष को (वर्तयसि स्म] प्रवर्तित किया है।

भावार्थ—कुन्थु नाथ भगवान् कुन्थु आदि सनस्त जीवों पर एक दया का ही विस्तार करते थे इसलिये उनका 'कुन्थु नाथ' यह नाम अत्यन्त सार्थक था। कुन्थुनाथ भगवान् चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों पदों के धारक थे इसलिये कहा गया है कि हे भगवन् ! आपने गृहस्थ अवस्था में राज्य वैभव के लिये राजाधिराज होकर चक्ररत्न को प्रवर्तित किया था और पश्चात् वीतरागावस्था में ज्वरादि समस्त रोग, बुढापा और मरण आदि से रहित उत्कृष्ट मोक्षलक्ष्मी के लिये इस संसार में–षट्खण्ड भारत क्षेत्र में धर्मचक्र को प्रवर्तित किया था ।। १ ।।

यदि राज्यविभूतिसंपन्नो भगवांस्तर्हि किमर्थं सा परित्यक्तेत्यत्राह—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् २

तृष्णेत्यादि—अभूद्भवान्, कथंभूतो ? विषयसौख्यपराङ्मुखः विषयाणां स्रग्वनितादीनां कार्यभूतं सौख्यं विषयसौख्यं तस्मिन् पराङ्मुखो निवृत्तः, किंविशिष्टः सन् ? आत्मवान् वश्येन्द्रियः, कुतस्तथाभूतः सन् सौख्यपराङ्मुखोऽभूदित्याह–तृष्णेत्यादितृष्णा विषयाकांक्षा स्ता एवार्चिषोऽग्निज्वालाः परि समन्ताद् दहन्ति । ननु मानुषमात्रं ताः परितापयन्ति तस्याभिलषितविषयाप्राप्तेः न तु चक्रवर्तिनं विपर्ययादित्यत्राह–नेत्यादिन शान्तिरुपशमः आसां तृष्णार्चिषां, कैः ? इष्टेन्द्रियार्थविभवैः इष्टा मनोज्ञास्ते च ते इन्द्रियार्थाश्च विषया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तेषां विभवाः सम्पत्तयस्तैः, कुतस्तैस्तासां न शान्तिः ? यस्मात् परिवृद्धिरेव परि समन्ताद् वृद्धिरेव उत्कर्ष एव यतस्तैस्तासां 'लाभाल्लोभः प्रवर्तते' इत्यभिधानात् १। कथं ताः परितापयन्ति ? स्थित्यैव स्वभावेनैव, यदि वा स्थित्यैव क्रियान्तरो परमेणैव सन्ततमित्यर्थः। किं पुनः किञ्चिदपि तद्विभवैर्नक्रियतेइत्यत्राह—कायेत्यादि—एते इष्टेन्द्रियार्थविभवाः कायस्य शरीरस्य परि समन्ताद्यस्तापः संतापस्तं हरतीति कायपरितापहरं निमित्तकारणं भवति न पुनस्तृष्णार्चिषामुपशान्तिकरा भवन्तीत्यर्थः, इति एवं ज्ञात्वा आत्मवान् भवान् विषय सौख्यपरांमुखोऽभूत्।

आगे भगवान् की राज्यसंपदा के त्याग का कारण कहते हैं—

अन्वयार्थ—[तृष्णार्चिषः] वियषकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाएं [परिदहन्ति] इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, [इष्टेन्द्रियार्थविभवैः] इष्ट इन्द्रियों के विषयों से [आसां] इन विषयाकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाओं की] न शान्तिः] शान्ति नहीं होती किन्तु [परिवृद्धिरेव] सब ओर से वृद्धि ही होती है। यह वृद्धि स्थित्यैव] इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है [निमित्तं] निमित्त कारण [काय परितापहरं] मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है विषयाकांक्षा रूप अग्निज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता। हे भगवन्! [इति] यह सब विचार कर ही [आत्मवान्) जितेन्द्रिय होते हुए आप (विषय सौख्यपराङ्मुखः विषय जन्य सुख से पराङ्मुख अभूत् हुए हैं।

भावार्थ—कुन्थु जिनेन्द्र चक्रवर्ती की अटूट सम्पदा को छोड़ कर निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक हुए थे उसका कारण था यह प्रतिबोध उन्हें अन्तरंग की प्रेरणा से प्राप्त हुआ था कि हे आत्मन्! स्त्री माला आदि विषयों की आकांक्षारूप अग्नि की ज्वालाए इस जीव को निरन्तर जलाती रहती हैं। उन विषयाकाङ्क्षाओं की पूर्ति के लिये यह जीव यद्यपि इन्द्रियों के इष्ट विषयों का संग्रह करता है परन्तु उनसे उन विषयाकाङ्क्षा रूप अग्नि ज्वालाओं की शान्ति न होकर उल्टी वृद्धि ही होती है जिस प्रकार इंधन से अग्नि की शान्ति नहीं होती किन्तु वृद्धि ही होती है उसी प्रकार इष्ट विषयों से विषयाकाङ्क्षाओं की शान्ति नहीं होती किन्तु वृद्धि ही होती है। इन विषयों का ऐसा ही स्वभाव है। यह मनुष्य अपने पुरुषार्थ के अहंकार से उन विषयकांक्षाओं को उपशान्त करने के लिये यद्यपि तरह तरह के निमित्त जुटाता है पर वह निमित्त कदाचित् शरीर के संताप को ही दूर कर पाता है अन्तरंग के परिताप को दूर नहीं कर पाता। अन्तरंग का ताप तो तब मिटे जब यह जीव विषयों को सुख का कारण न मान कर संतोष को ही सुख का कारण समझने लगे। कुन्थुनाथ भगवान् इस सब वस्तु स्थिति को समझते थे अतः वे विषय सुख से पराङ्मुख होकर निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक हुए थे॥ २॥

१ इतोऽग्रे ख पुस्तके निम्नांकितः श्लोकोऽधिको वर्तते
'त्रिरासां चिन्तितं कार्यं त्रिकोटया नैव पूर्यते।
यथालाभस्तथा लोभो लोभाल्लोभः प्रवर्तते॥'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं पुनस्तत्परांमुखेन भूत्वा कृतमित्याह—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥

बाह्यमित्यादि—आचरंस्त्वमाचरितवान्, त्वं कुन्थुजिनः, किं तत् ? तपः, कथंभूतम् ? बाह्यमनशनादिलक्षणं, किंविशिष्टं ? परमदुश्चरं परं च तद् दुश्चरं च अतिदुष्करम्, किमर्थमाचरस्त्वमित्याह—आध्यात्मिकस्येत्यादि—अध्यात्मभवमाध्यात्मिकं तस्य तपसो ध्यानलक्षणस्य परि समन्ताद् वृंहणार्थं वृद्ध्यर्थम् । अतो बाह्यं तप आचरन् ववृतिषे वर्तितवान्, क्व ? ध्यानद्वये धर्म्यशुक्ललक्षणे, कथंभूते ? अतिशयोपपन्ने परमातिशयप्राप्ते, यदि वा अतिशयेन भेदेन उपपन्ने युक्ते, धर्म्यध्यानं हि आज्ञापाय विपाकसंस्थानविचयलक्षणैर्भेदैर्युक्तं, शुक्लध्यानं तु पृथक्त्वैकत्व वितर्कसूक्ष्म क्रियाप्रतिपातिव्युपरत क्रियानिर्वति लक्षणैरिति, पुनरपि कथंभूते एतस्मिन् ध्यानद्वये ? उत्तरस्मिन् आर्त्तरौद्रधर्म्यं शुक्लानीति विन्यासापेक्षया उत्तरस्मिन् धर्म्यशुक्लरूपे, किंकृत्वा तथाभूते ध्यानद्वये ववृतिषे ? निरस्य, किं तद् ? ध्यानं, किंविशिष्टं ? कलुषद्वयमार्तरौद्ररूपम् ॥३॥

अब भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं----

अन्वयार्थ—हे भगवन् (त्वम्) आपने [आध्यात्मिकस्य] अन्तरङ्ग [तपसः] तप की (परिवृंहणार्थम्) वृद्धि के लिये [परम दुश्चरं] अत्यन्त कठिन [बाह्यंतपः] अनशनादि बाह्य तप का [आचरः] आचरण किया था तथा [कलुषद्वयं] आर्त्तरौद्र रूप दो खोटे [ध्यानं] ध्यानोंको [निरस्य] छोड़कर आप [अतिशयोपपन्ने] उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित [उत्तरस्मिन्] आगे के [ध्यानद्वये] धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में [ववृतिषे] स्थिर हुए थे ।

भावार्थ -बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तपके दो भेद हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्यतप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। आभ्यन्तर तपों की वृद्धि के लिये यदि बाह्य तप तपे जाते हैं तो वे सुतप कहलाते हैं अन्यथा कायक्लेश मात्र के कारण कहे जाते हैं। हे कुन्थुजिनेन्द्र ! आपने आभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिये ही अतिशय कठिन बाह्य तपका आचरण किया था। अभिप्राय यह है कि आप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों का आचरण कर संवर और निर्जरा के मार्ग में अग्रसर हुए थे। इसी तरह ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार भेद हैं। इनमें से प्रारम्भ के दो ध्यान कलुषित —खोटेध्यान हैं—नरक तथा तिर्यञ्च आयु के बन्ध के कारण होने से अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याज्य है तथा धर्म्य और शुक्लध्यान स्वर्ग तथा मोक्ष के कारण होने से प्रशस्त ध्यान हैं—उपादेय हैं। ये दोनों ही ध्यानपरम अतिशय से युक्त हैं अथवा अतिशय का अर्थ भेद भी होता है इसलिये धर्म्यध्यान, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय इन चार अवान्तर भेदों से सहित है तथा शुक्लध्यान, पृथक्त्व वितर्कवीचार एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निर्वर्ति इन चार आवान्तर भेदों से युक्त है। भगवान् कुन्थुनाथ मुनि अवस्था में आर्त्त और रौद्र रूप दो दुर्ध्यानों को छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानों इन दो उत्तर में निमग्न हुए थे तथा उसके फल स्वरूप क्रम क्रम से कर्मों का क्षय करते हुए आपने छद्मस्थ अवस्था का काल व्यातीत किया था ॥३॥

तत्र वर्तित्वा किं कृतवानित्यत्राह----

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान्

हुत्वेति—बभ्राजिषे भासितवान्, कथंभूतः सन् ? विनेता प्रणेता, कस्य ? सकलवेदविधेः सकलस्य लोकालोकस्य वेदः परिज्ञानं सकलवेदस्तस्य विधिर्विधानं कारणं यस्मादसौ सकलवेदविधि रागमस्तस्य, किं कृत्वा ? हुत्वा दग्ध्वा क्षयमुपनीय, काः ? स्वकर्मकटुकप्रकृतीः कटुका विरूपफलदायिन्यः ताश्च ताः प्रकृतयश्च स्वकर्मणां कटुकप्रकृतयः स्वकर्मकटुकप्रकृतयः, ताः कति ? चतस्रः घातिचतुष्टय मित्यर्थः, क्व ता हुत्वेत्याह—रत्नेत्यादि—रत्नानां सम्यग्दर्शनादीनां त्रयं तस्यातिशयः प्रकर्षः स एव तेजः कर्मेन्धनदहन स्वभावत्वात् तस्मिन् किंविशिष्टो ? जातवीर्यः जातं प्रादुर्भूतं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य एवंभूतो भगवान्, क इव क्व ? बभ्राजिषे इत्याह—व्यभ्रे इत्यादि—विवस्वानादित्यो यथा यद्वत् बभ्राजिषे कथंभूतो ? दीप्तरुचिः दीप्तारुचिर्यस्य, क्व ? वियति गगने, कथंभूते ? व्यभ्रे विगतान्यभ्राणि यस्मिन् ॥४॥

अब ध्यान का फल कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतीः) अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को (रत्नत्रयातिशयतेजसि) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्रकृष्टता रूप अग्नि में (हुत्वा) होम कर (जातवीर्यः) आप सामर्थ्यवान् अनन्तवीर्य से युक्त हुए तथा (सकलवेदविधेः) समस्त लोकालोक विषयक ज्ञान के विधायक परमागम के (विनेता) प्रणेता होकर (तथा) उस तरह (बभ्राजिषे) देदीप्यमान हुए यथा जिस तरह कि (व्यभ्रे) मेघ रहिते (वियति) आकाश में (दीप्तरुचिः) देदीप्यमान किरणों से युक्त (विवस्वान्) सूर्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—कुन्थुनाथ जिनेन्द्र दशम गुणस्थान के अन्तमें मोहनीय और बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन इस तरह चार कर्म प्रकृतियों का क्षयकर तेरहवें गुणस्थान में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य इन चार आत्मीय गुणों से युक्त हुए थे। कुवेर निर्मित समवसरण में विराजमान होकर उन्होंने दिव्यध्वनि द्वारा जो पदार्थों का उपदेश दिया था उसी के आधार पर चारज्ञान के धारी गणधरदेव ने द्वादशाङ्ग रूप परमागम की रचना की थी इसलिये मूलकर्ता होने से भगवान् कुन्थुनाथ ही उस परमागम के प्रणेता कहे जाते थे। उस समय लोकोत्तर तेज से युक्त भगवान् कुन्थुजिनेन्द्र समवसरण में ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि मेघरहित आकाश में प्रचण्ड किरणों से युक्त सूर्य सुशोभित होता है ॥४॥

उक्तार्थफलं दर्शयन्नाह—

यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥

यस्मादित्यादि—यस्मात्कारणात्, मुनीन्द्र ! यतिप्रभो ! लोकपितामहो ब्रह्मा आद्यो येषामीश्वर कपिल सुगतानां ते तथोक्ताः, ते नाप्नुवन्ति न प्राप्नुवन्ति, कां ? तवविद्याविभूतिकणिकामपि,—विद्या केवलज्ञानं विभूतिः समवसरणादिलक्ष्मीः तव या विद्या विभूतिश्च तयोः कणिकामपि लवमपि, तस्मात्कारणात् भवन्तं कुन्थु तीर्थंकरदेवं, कथंभूतं ? अजं न जायत इत्यजो जन्मरहितस्तं, पुनरपि कथंभूतं ? अप्रतिमेयमपरिमेयं 'अनन्तं केवल, मित्यभिधानात्, पुनरपि कथंभूतं ? स्तुत्यं स्तवार्हं इत्थंभूतं भवन्तं स्तुवन्ति, के ते ? आर्या गणधरदेवादिमुनयः, किंविशिष्टाः ? सुधियः शोभना धीर्बुद्धिर्येषां, पुनरपि कथंभूताः ? स्वहितैकतानाः स्वस्मै हितं निःश्रेयसं तदेकस्तानो विषयो येषां ते स्वहितैकतानाः मोक्षाकांक्षिण इत्यर्थः ॥५॥

अब भगवान् की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र) हे यतिनाथ ! (यस्मात्) चूंकि (लोकपितामहाद्याः) ब्रह्मा आदि लौकिक देवता (तव) आपको (विद्याविभूति कणिका मपि) केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरण रूप विभूति के एक कण मात्र को भी (न अप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त करते हैं (तस्मात्) इसलिये (सुधियः) उत्तम बुद्धि के धारक (स्वहितैकतानाः) एक आत्महित में निमग्न—मोक्ष के अभिलाषी (आर्याः) गणधरादिदेव (अजं) जन्म से रहित, (अप्रतिमेय) अपरिमित—अनन्त तथा (स्तुत्यं) स्तुति के योग्य (भवन्तं) आपकी (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—यहां कुन्थुनाथ भगवान् के बाह्य तथा आभ्यन्तर–दोनों प्रकार के वैभव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका जो लोकालोका वभासी केवलज्ञान है तथा अष्ट प्रातिहार्य रूप जो आपकी बाह्य विभूति है, ब्रह्मा विष्णु महेश कपिल तथा बुद्ध आदि लौकिक देवता उसके एक छोटे से कणको भी नहीं प्राप्त कर सके हैं, साथ ही आप अज हैं–आगे आपको जन्म नहीं धारण करना है, अप्रतिमेय हैं—छद्मस्थ जीव अपने अल्पतम ज्ञान से आपके अनन्त गुणों की गरिमा को नहीं समझ सकते हैं तथा सौ इन्द्र निरन्तर आपको वन्दना करते हैं इन सब विशेषताओं से आकृष्ट होकर उत्कृष्ट बुद्धि के धारक मोक्षाभिलाषी गणधरादि आर्य पुरुष आपकी स्तुति करते हैं ।।५।।

इति कुन्थुजिनस्तवनम्

श्री अरजिनस्तवनम्

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथास्तुतिः ।
आनन्त्याते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ १ ॥

गुणस्तोक मित्यादि––१पथ्यावक्त्रं छन्दः । गुणानां स्तोकं लवं सद् विद्यमानं उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य तद्बहुत्वकथा तेषां गुणानां वहुत्वकीर्तितं स्तुतिर्लोके प्रसिद्धा, सा स्तुतिस्त्वयि अरतीर्थंकरदेवे कथं कर्तुं शक्या, कुतो न शक्या ? ते गुणा वक्तु मशक्या यतः, कुतस्ते तव गुणा वक्तुं नशक्यन्त इति चेत् ? अनन्त्यात् ।। १ ।।

गुणों की अधिकता के कारण आपकी स्तुति शक्य नहीं हैं यह कहते हैं––

अन्वयार्थ—(सद्) विद्यमान (गुणस्तोकं) अल्प गुणों का (उल्लङ्घ्य) उल्लङ्घन कर (तद्बहुत्व कथा) उन गुणों की अधिकता का कथन करना (स्तुतिः) स्तुति कहलाती है परन्तु (आनन्त्यात्) अनन्त होने के कारण (ते) आपके (गुणाः) गुण (वक्तुमशक्याः) कहने के लिये अशक्य है अतः (त्वयि) आपके विषय में (सा) वह स्तुति (कथं) किस प्रकार संभव है ।। १ ।।

भावार्थ—थोड़ी चीज को बढ़ा कर कहना स्तुति कहलाती है परन्तु हे अर जिन ! आपके गुण अनन्त होने से कहने में नहीं आते तब आपकी स्तुति कैसे हो सकनी है ।। १ ।।

१'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' जिसके द्वितीय और चतुर्थ चरण में चतुर्थ अक्षर के आगे जगण हो तथा प्रथम और तृतीय चरण में यगण हो उसे पथ्यावक्त्र छन्द कहते हैं। यह अनुष्टुप् छन्द का ही एक भेद है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तर्हि मौनं कर्तु मर्हमित्यत्राह--

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुन्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥ २ ।

तथापीत्यादि—तद्गुणानां स्तवनं कर्तु मशक्यत्वप्रकारेणापि ते तव मुनीन्द्रस्य गणधर देवादिमुनिस्वामिनः यतो यस्मात्कारणात् नामापि न केवलं गुणाः कीर्तितं स्तुतौ भक्त्या उच्चरित्तं पुनाति पवित्रीकरोतु नोऽस्मान्, कथंभूतस्य ते ? पुण्यकीर्तेः पुण्या प्रशस्ता कीर्ति र्वाणी ख्यातिर्वा यस्य, पुण्याय वा पुण्यनिमित्तं कीर्तिः स्नुतिर्यस्य पुण्यकीर्तिस्तस्य, यत एवं ततस्तस्मात्कारणात् ब्रूयाम स्वभक्त्वा स्वशक्त्या च स्तूयाम् किञ्चन तव गुणलवमात्रम् २

यदिशक्त्य नहीं है तो चुप बैठो यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—यद्यपि आपके गुणों की स्तुति अशक्य है (तथापि) तो भी (पुण्यकीर्ते) प्रशस्त यश वाणी अथवा ख्याति के धारक तथा (मुनीन्द्रस्य) गणधरादि मुनियों के स्वामी (ते) आपका (कीर्तितं) उच्चरित (नामापि) नाम भी (यतः) चूंकि (नः) हमें (पुनाति) पवित्र करता है [ततः] इसलिये [किञ्चन] कुछ (ब्रूयाम) कहते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्तुति का कथित लक्षण घटित न होने से वह तो आपमें बनती नहीं है फिर भी आप पवित्र कीर्ति वाणी अथवा ख्याति के धारक तथा गणधरादि मुनियों के स्वामी हैं अतः आपका नाम कीर्तन भी हमें पवित्र करता है इसीलिये हम कुछ कह रहे हैं—आपके गुणों का लेशमात्र कथन करने के लिये उद्यत हैं ॥ २ ॥

तदेवाह---

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥ ३ ॥

लक्ष्मीत्यादि---ते तव, जरत्तृणमिवाभवत् जीर्णतृणमिव संजातं, किं तत् ? साम्राज्यं, कथंभूतं ? सार्वभौमं सर्वभूमौ भवं सार्वभौमं, पुनरपि कथंभूतं ? चक्रं लाञ्छनं चिह्नं यस्य, पुनरपि किं विशिष्टं ? लक्ष्मीविभवसर्वस्वं लक्ष्म्या विभवो विभूतिः सर्वस्वं आत्मीयो यस्य, कथंभूतस्य ते ? मुमुक्षोः सर्वसङ्गपरित्यागमिच्छोः ।

भगवान की निःस्पृहता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) लक्ष्मी की विभूति रूप सर्वस्व से युक्त तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(चक्रलाञ्छनं) सुदर्शनचक्र रूप चिह्न से सहित (सार्वं भौमं) समस्त पृथिवी सम्बन्धी जो (ते) आपका (साम्राज्यं) साम्राज्य था वह (मुमुक्षोः) मोक्ष के इच्छुक होने पर आपके लिये (जरत्तृणमिव) जीर्ण तृण के समान (अभवत्) हो गया था।

भावार्थ—अर नाथ भगवान् तीर्थंकर होने के साथ साथ चक्रवर्ती भी थे। भरतक्षेत्र की षट्खण्ड भूमि में उनका विशाल साम्राज्य फैला हुआ था, चौदह रत्न तथा नौनिधियों से प्राप्त होने वाली अटूट लक्ष्मी का वैभव उनके साम्राज्य का सर्वस्व था तथा देवोपनीत सुदर्शनचक्र उनके साम्राज्य का चिन्ह था परन्तु जब वे संसार से विरक्त हो मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक हुए तब वह विशाल साम्राज्य उन्हें जीर्णतृण के समान तुच्छ जान पड़ने लगा—उस विशाल साम्राज्य को छोड़ते हुए उन्हें रञ्च मात्र भी लगाव उत्पन्न नहीं हुआ ॥ ३ ॥

एवमात्मगतं परमवीतरागत्व गुणं प्रदर्श्य शरीरगतं गुणं प्रदर्शयन्नाह—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥ ४ ॥

तवेत्यादि—तव रूपस्य त्वदीय शरीरमूर्तेः सौन्दर्यं व रमणीयतां दृष्ट्वा तृप्तिं दर्शनाकांक्षापरिपूर्तिं अनापिवान् अप्राप्तवान्, कोऽसौ ? शक्रः, कथंभूतो ? द्वायक्षः द्वे अक्षिणी लोचने यस्यासौ द्व्यक्षः, पश्चाद् वभूव संजातः, किंविशिष्टः सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः सहस्रलोचनः, न केवलं सहस्राक्षो बभूव बहूविस्मयः अनेकाश्चर्यश्च बभूव ॥४॥

भगवान की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपके (रूपस्य) शरीर सम्बन्धी रूप की [सौन्दर्य] सुन्दरता को [दृष्ट्वा] देख कर [तृप्तिं] संतोष को [अनापिवान्] प्राप्त न होने वाला [द्व्यक्षः] दो नेत्रों का धारक [शक्रः] इन्द्र [बहु विस्मयः] बहुत भारी आश्चर्य से युक्त (सहस्राक्षः) एक हजार नेत्रों का धारक [बभूव] हुआ था।

भावार्थ-भगवान् अर नाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक थे। कामदेव होने के कारण उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर था। जन्म कल्याणक के समय जब इन्द्राणी बालक रूप धारी अर जिनेन्द्र को प्रसूति का गृह से बाहर लाकर इन्द्र को सौंपने लगी तब इन्द्र उनकी सुन्दरता देख आश्चर्य में पड़ गया। वह अपने स्वाभाविक दो नेत्रों से उनकी सुन्दरता देख संतोष को प्राप्त नहीं हुआ इसलिये विक्रिया से उसने एक हजार नेत्र बना लिये तभी से इन्द्र का 'सहस्राक्ष' नाम भी प्रचलित हो गया ॥४॥

इदानीमन्तरङ्ग महाशत्रुपराजयलक्षणं गुणं भगवतः स्तुवन्नाह—

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।
दृष्टिसंपदुपेक्षास्त्रै स्त्वया धीर पराजितः ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहरूप इत्यादि—मोह इत्युपलक्षणं ज्ञानावरणादिघातिकर्मणां, मोहो मोहनीयं कर्म रूपं स्वभावो यस्य स मोहरूपः, कोऽसौ ? रिपुः शत्रुः, कथंभूतः ? पापः पापरूपः घातिचतुष्टयं पाप मुच्यते 'शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्' 'अतोऽन्यत्पापम्' इति वचनात्, पुनरपि कथंभूतः ? कषायभटसाधनः कषाया एव भटास्त एव साधनं सैन्यं तन्त्रं यस्य, इत्थंभूतो रिपुः त्वया मुनीन्द्रेण पराजितो निर्मूलितः, हे धीर ! परीषहादिभ्यो क्षुभितचित्त ! कैः कृत्वेत्याह—दृष्टीत्यादि—दृष्टिः सम्यग्दर्शनं, पद्यते गम्यतेऽर्थो यया सा पत् प्रतिपत्तिः समीचीनापत् संपत् सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः उपेक्षा परमोदासीन लक्षणं चारित्रं दृष्टिश्च संपच्चोपेक्षा च ता एव अस्त्राणि प्रहरणानि तैः ॥ ५ ॥

आगे अपने मोहरूपी भट को जीता है यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—[हे धीर] परिषहादि से जिनका चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ऐसे हे अर जिनेन्द्र ! [त्वया] आपने [पापः] पाप रूप तथा [कषायभट साधनः] कषायरूप योद्धाओं की सेना से सहित [मोहरूपो रिपुः] मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को [दृष्टि संपदुपेक्षास्त्रैः] सम्यग्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप शस्त्रों के द्वारा [पराजितः] पराजित किया है ।

भावार्थ—आत्मा तो शुद्धज्ञायक भाव से युक्त है परन्तु अनादि काल से एक क्षेत्रा व गाह को प्राप्त हुए कर्मरूप पुद्गल आत्मा को कलुषित कर संसार भ्रमण का पात्र बना रहे हैं । उन कर्मरूप पुद्गल द्रव्यों में मोहकर्म सब से प्रधान हैं । उसके दो भेद हैं १ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह । दर्शनमोह के उदय से यह आत्मा मिथ्यादृष्टि बन कर स्वरूपको भूलजाता है और शरीरादि पर पदार्थों में आत्म बुद्धि करने लगता है । चारित्रमोह के उदय से क्रोधादिकषाय तथा हास्य आदि नोकषायों की उत्पत्ति होती है । यह मोहकर्म ही मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय के रूप में नवीन कर्मबन्ध का कारण है । आचार्य ने इस मोह कर्म को रिपु की उपमा दी है । जिस प्रकार किसी शक्ति शाली रिपु के पास योद्धाओं की सेना होती है उसी प्रकार इस मोह कर्म के पास कषाय रूपी योद्धाओं की सेना है । हे अर नाथ जिनेन्द्र ! आपने इस मोह रूपी प्रबल शत्रु को दृष्टि—सम्यग्दर्शन, संपद्—सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमोदासीनभाव रूप सम्यक्चारित्र इस प्रकार रत्नत्रय रूप अस्त्रों के द्वारा पराजित किया है ।।५।।

मोह जयाद् यज्जाथं तद्दर्शयन्नाह—

कन्दर्पस्योद्धरो[१] दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

---

१ कन्दर्पस्योद्धुरो ख० (मूले)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंदर्पस्येत्यादि--कंदर्पस्य कामदेवस्य उद्धरः उल्वणः उत्कटः दर्पो गर्वोऽहंकारः, कथंभूतः ? त्रैलोक्यविजयार्जितः त्रैलोक्यस्य विजयस्तेन अर्जितं उपार्जित, ह्रेपयामास लज्जां नीतवान् तं कंदर्पं, कथंभूतः सन् ? प्रतिहतो विनाशित उदयो यस्यासौ प्रतिहतो दयोऽलब्धास्पद इत्यर्थः, क्व ? त्वयि कथंभूते ? धीरेऽक्षुभितचित्ते ।।६।।

अब मोह विजय का फल दिखाते हैं-

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्य विजयार्जितः) तीनों लोकों की विजय से उपार्जित (कंदर्पस्य) कामदेव के (उद्धरः) उत्कट-बहुत भारी (दर्पः) गर्व ने [धीरे] धीर वीर [त्वयि] आपके विषय में [प्रतिहतोदयः सन्] खण्डित प्रसर हो [तं] कामदेव को [ह्रेपयामास] लज्जित किया था ।

भावार्थ—हे भगवन् ! कामदेव को इस बात का बड़ा गर्व था कि मैंने तीनों लोकों में विजय प्राप्त की है परन्तु आप इतने धीर वीर निकले कि उसका वह सारा गर्व आपमें खण्डित हो गया-आपमें स्थान नहीं पा सका । अपने खण्डित गर्व ने कामदेव को बहुत ही लज्जित किया-उसकी सारी ऐंठ भुला दी भाव यह है कि आप सचमुच ही काम विजयी हैं ।।६।।

मोहे कदर्पे च विनिर्जितेयज्जातं तद्दर्शयन्नाह—

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ।।७।।

आयत्या मित्यादि—तृष्णैव नदी तृष्णा नदी त्वया अरजिनेन उत्तीर्णा तृष्णानद्या दूरे भगवान् व्यवस्थित इत्यर्थः । कया ? विद्यानावा विद्यैव नौस्तया, कथंभूतया ? विविक्तया विशुद्धया निर्दोषया, किंविशिष्टासौ दुरुत्तरा दुःखेन महता कष्टेनोत्तीर्यंत इति, पुनरपि कथंभूता ? दुःखयोनिः दुःखस्य योनिरुत्पत्तिहेतुः, कदा ? आयत्यां च परलोके तदात्वे च इहलोके, चकार उभयत्र परस्पर समुच्चये ।।७।।

मोह और काम के जीतने का फल दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! [आयत्यां च तदात्वे च , जो परलोक तथा इस लोक-दोनों ही जगह [दुःखयोनिः] दुःखों की उत्पत्ति का कारण है तथा [दुरुत्तरा] जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी [तृष्णा नदी] तृष्णा रूपी नदी [त्वया] आपने [विविक्तया] निर्दोष [विद्यानावा] विद्या-सम्यग्ज्ञान रूपी नौका के द्वारा [उत्तीर्णा] पार की है ।

भावार्थ—तृष्णा का अर्थ भोगाकांक्षा है इस भोगाकांक्षा को आचार्य ने नदी की उपमा दी है जिस तरह नदी लम्बी होती है और अपने उत्पत्ति स्थान से लेकर आगे बढ़ती ही जाती है उसी प्रकार यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगाकांक्षा भी बहुत लम्बी है तथा अपने प्रारम्भिक स्थान से लेकर आगे वढ़ती ही जाती है। यह भोगाकांक्षा रूपी नदी दुरुत्तर है—कठिनाई से पार करने योग्य है, विरले ही निकट भव्यजीव इस नदी से पार हो पाते हैं, संसार के वहुसंख्यक प्राणी इसी भोगाकांक्षा रूपी नदी में मज्जनोन्मज्जन करते रहते हैं। यह नदी वर्तमान भव में दुःख का कारण है और परभव में भी दुःख का कारण है—भोगोपभोग की सामग्री जुटाते समय इस भव में जीवों को अपरिमित दुःख उठाना पड़ता है और उनके भोग से उत्पन्न तीव्र कर्मबन्ध का उदय होने पर परभव में—नरक निगोदादि की पर्याय में दुःख भोगना पड़ता है। यदि इस नदी को पार किया जा सकता है तो विद्या रूपी नौका के द्वारा ही पार किया जा सकता है। विद्या सम्यग्ज्ञान को कहते हैं और उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। सम्यग्दर्शन मूलक सम्यग्ज्ञान के द्वारा इस जीवके हृदय में यह विवेक प्रकट होता है—कि हे आत्मन्! इस भोगाकांक्षा से कभी तृप्ति होने वाली नहीं है। भोगोंको भोगकर आजतक कोई तृप्त नहीं हुआ है। सुख आत्मा का असाधारण गुण है अतः उसकी उद्भूति आत्मा में ही हो सकती है भोगोपभोग के पदार्थों में नहीं इसलिये उनकी ओर से चित्त हटा कर आत्म स्वरूप में लीन कर। जिसप्रकार सछिद्र नौका से नदी पार नहीं की जा सकती उसी प्रकार सदोष—ख्याति लाभ आदि दोषों से सहित सम्यग्ज्ञान रूपी नौका के द्वारा भोगाकांक्षा रूप नदी को पार नहीं किया जा सकता इसके लिये तो विविक्त—निर्दोष नौका ही आवश्यक है ॥७॥

मोह काम तृष्णोन्मूलने च यज्जातं तद्दर्शयन्नाह—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥८॥

अन्तक इत्यादि—अन्तको यमः, कथंभूतः ? क्रन्दकः आक्रन्दनहेतुः, केषां ? नृणाम्, पुनः कथंभूतो ? जन्मज्वर सखः जन्मज्वरयोः सखा, कदा ? सदा सर्वकालं, स इत्थंभूतो व्यावृत्तः उपरतः, कस्मात् ? कामकारतः कामेनेच्छया करणं कामकारस्तस्मात्काम कारतो यच्छावृत्तितः, त्वयि प्रतिहतेच्छः सम्पन्न इत्यर्थः। किं कृत्वाऽसौ ततो व्यावृत्तः ? प्राप्य, कं ? त्वां अरतीर्थं करदेवं, कथंभूतं ? अन्तकान्तकं अन्तकस्य यमस्यान्तकं विनाशकम् ॥८॥

मोह काम और तृष्णा के नष्ट होने पर जो हुआ उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् (जन्मज्वर सखः) पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगों का मित्र और (सदा) हमेशा (नृणां क्रन्दकः मनुष्यों को रुलाने वाला (अन्तकः) यम (अन्तकान्तकं) यम का अन्त करने वाले (त्वाम्) आपको (प्राप्य) प्राप्त कर (कामकारतः) अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से (व्यावृत्तः) उपरत हुआ है।

भावार्थ—भुज्यमान आयु के प्रदेशों का निषेक रचना के अनुसार क्रम क्रम से अथवा विष वेदना—रक्तक्षय आदि का निमित्त मिलने पर युगपत् विघात होने से जो वर्तमान पर्याय की समाप्ति होती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे अन्तका यम या मरण कहते हैं । इस जीव को मरण के बाद नया जन्म धारण करना पड़ता है तथा जीवन पर्यन्त ज्वर आदि रोगों से जूझना पड़ता है इसलिये मरण को जन्म तथा ज्वरादि का सखा-सहायक कहा जाता है । यह मरण स्वयं निज की तथा स्त्री पुत्र आदि इष्ट जनों की वर्तमान पर्याय के नाश का कारण होने से मनुष्यों को सदा रुलाता है—दुखी करता है परन्तु हे अर जिनेन्द्र ! आप अन्तक-मरण का भी अन्त करने वाले हैं—समस्त कर्मों का क्षय कर अजर अमर अविनाशी पद को प्राप्त करने वाले हैं इसलिये आपको पाकर वह अन्तक—वह यम अपनी मन चाही प्रवृत्ति से दूर हट गया है—आपके ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है सारांश यह है कि जो पूर्वोक्त क्रम से मोह काम और तृष्णा को नष्ट कर देता है उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही होतो है ॥८॥

ननु भगवति मोहादिप्रक्षयः कुतोऽवगत इत्याह—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥९॥

भूषेत्यादि—तव रूपमेवाचष्टे कथयति, कं ? दोष विनिग्रहं दोषस्य मोहादेः विनिग्रहं प्रक्षयं हे धीर ! अर स्वामिन् ! कथंभूतं रूपं ? भूषावेषायुधत्यागि भूषा अलंकारः कटककटिसूत्रादिः वेषः शरीरोत्कर्षः उद्धततादिः, आयुधं प्रहरणं तानि त्यजतीत्येवंशीलं, पुनरपि कथंभूतं ? विद्यादमदयापरं परमज्ञानोपशमकारुण्यतन्त्रं स्वाधीनम् ॥९॥

अब भगवान् के मोहादि का क्षय कैसे जाना गया यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(धीर !) हे धीर ! अरजिनेन्द्र ! (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषणों, वेषों, तथा शस्त्र का त्याग करने वाला तथा (विद्यादमदयापरम्) ज्ञान इन्द्रिय दमन और दया में तत्पर (तव) आपका (रूपमेव) रूप ही (दोषविनिग्रहं) रागादि दोषों के अभाव को (आचष्टे) कहता है ।

भावार्थ—संसार के रागीद्वेषी मानव कटक कुण्डल, केयूर आदि आभूषणों के द्वारा अपनी शारीरिकशोभा को बढ़ाना चाहते हैं, तरह तरह के वेष धारण कर अपनी महत्ता स्थापित करना चाहते हैं तथा शस्त्र धारण कर अपना भय दूर करते हुए दूसरों को आतङ्कित करने का प्रयत्न करते हैं । उनके शरीर की प्रवृत्ति स्वाध्याय आदि ज्ञान के साधनों में न होकर कषाय की पूर्ति करने में होती है, इन्द्रियों के विषयों में झंपापात करते हुए वे सदा भोगाकांक्षा से आतुर रहते हैं और शरीर की इतनी निर्दयता पूर्ण प्रवृत्ति करते हैं कि उससे दया का भाव सदा पलायमान रहता है । इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी उनकी आत्मा असंख्य दोषों का पुञ्ज है परन्तु हे अर जिनेन्द्र ! आप शरीर से इतने निःस्पृह हैं कि उसे अलंकृत करने का भाव कभी आपके हृदय में उत्पन्न नहीं होता । आप कल्पित महत्वा कांक्षा से इतने दूर हैं कि कभी शरीराश्रित वेषों की ओर दृष्टि नहीं देते—मात्र नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण कर अन्य सब वेषों का आप त्याग कर चुके हैं आप इतने निर्भय और प्रतिकार की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावना से रहित हैं कि आपको आत्मरक्षा तथा प्रतिकार करने के लिये अस्त्र शस्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। चूंकि ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है अतः आप उसी के विकास में निरन्तर संलग्न रहते हैं, इन्द्रियों के विषयों पर आपने पूर्णनियन्त्रण प्राप्त कर लिया है अर्थात् स्पर्शनादि इन्द्रियां आपके स्वाधीन हैं और ईर्यासमिति आदि से आपको दया—जीवरक्षा का भाव सदा प्रकट होता रहता है। इन सब से स्पष्ट प्रतीत होना है कि हे भगवन्! आप समस्त दोषों का निग्रह, निग्रह ही नहीं विनिग्रह—विशिष्ट कर चुके हैं ॥९॥

अपरमपि तन्निग्रहे यज्जातं तद्दर्शयन्नाह--

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥१०॥

समन्तत इत्यादि—समन्ततः सर्वतः अङ्गभासां शरीरतेजसां परिवेषेण परिमण्डलेन, कथंभूतेन ? भूयसा महता तमोऽन्धकारः, कथंभूतं ? बाह्यं, अपाकीर्णं ध्वस्तम्, अध्यात्ममभ्यन्तरं तमो ज्ञानावरणादिलक्षणं, ध्यानतेजसा अपाकीर्णम् ॥१०॥

मोह का निग्रह होनेपर जो हुआ उसे दरशाते हैं--

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (समन्ततः) सब ओर फैलने वाले (ते) आपके (अङ्गभासां) शरीर सम्बन्धी प्रभाओं के (भूयसा) विशाल (परिवेषेण) मण्डल के द्वारा (बाह्यं) बाह्य (तमः) अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है और (ध्यानतेजसा) ध्यान रूप तेज के द्वारा (अध्यात्मं) ज्ञानावरणादि कर्म रूप अन्तरङ्ग का अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है।

भावार्थ—केवल ज्ञान होते ही भगवान् का शरीर परमौदारिक शरीर कहलाने लगता है। उनके उस शरीर से एक विशिष्ट प्रकार की प्रभा निकल कर सब ओर व्याप्त हो जाती है जिसे भामण्डल कहते हैं उस भामण्डल के द्वारा समीपवर्ती समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है। केवलज्ञान के पूर्व शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि--घातिया कर्मों का क्षय होता है जिससे अन्तरङ्ग में विद्यमान समस्त अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट होकर आत्मा लोकालोकावभासी केवलज्ञान के द्वारा जगमगा उठती है। यहां अर जिनेन्द्र के इसी बाह्य भामण्डल तथा ध्यान रूप आभ्यन्तर तेज की महिमा गाई गई है ॥१०॥

एवमपायातिशयं स्तुत्वा भगवतः पूजातिशयं स्तोतुमाह--

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूत स्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्वं नाथ सचेतनम् ॥११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वज्ञेत्यादि--सर्वज्ञस्य ज्योतिरनन्तज्ञानं तेन उत्कर्षेण भूतो जातः उद्भूतः, कोऽसौ ? महिमोदयो महिम्नो माहात्म्यस्य उदयः प्रादुर्भावः, किं विशिष्टः ? तावकः त्वदीयः, कं न कुर्यादपि तु कुर्यादेव, कं न कुर्यादपि तु कुर्यादेव, कं ? सत्वं प्राणिनं, कथंभूतं ? सचेतनं गुणदोषविवेकचतुरं, कथंभूतं कुर्यात् ? प्रणम्रं प्रणमन शीलं, ते तव ॥११॥

अब भववान् की पूजा के अतिशय का वर्णन करते हैं--

अन्वयार्थ— नाथ) हे अर नाथ जिनेन्द्र ! (सर्वज्ञज्योतिषा) समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञान रूपी ज्योति से [उद्भूतः] उत्पन्न हुआ (तावकः) आपको (महिमोदयः) महिमा का उत्कर्ष (कं) किस [सचेतनं] गुणदोष के विचार में चतुर (सत्वं) प्राणी को (प्रणम्रं) नम्रीभूत (न कुर्यात्) नहीं कर देता है ?—सब को कर देता है ।

भावार्थ—वर्तमान में भी सामान्य ज्ञानियों की अपेक्षा यदि किसी को कुछ विशिष्ट ज्ञान होता है तो लोक में उसका प्रभाव अधिक होता है फिर समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान के प्रभाव का तो कहना ही क्या है ? केवल ज्ञान होते ही समस्त देव दानवों मनुष्यों एवं पशु पक्षियों में हर्ष का वातावरण छा जाता है । समवसरण की रचना होती है उसमें विराजमान होकर दिव्यध्वनि के द्वारा भगवान् पदार्थ का उपदेश देते हैं । उस सर्वज्ञ के ज्ञान की महिमा से आकृष्ट होकर समवसरण की बारह सभाएं श्रोताओं से भर जाती हैं । अहंकारी से अहंकारो मनुष्य समवसरण में पहुँच ते ही नतमस्तक हो जाते हैं । यहां अर जिनेन्द्र की इसी लोकोत्तर महिमा का गान किया गया है ।।११।।

अथेदानी भगवतो वागतिशयं स्तुवन्नाह--

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ १२ ॥

तवेत्यादि--तव सम्बन्धि, वागेवामृतं वागमृतं अनन्तसुखहेतुतया प्राणिनामाप्यायकत्वात्, कथंभूतं ? श्रीमत् यथावन्निखिलार्थप्रतिपादन लक्षणश्रीर्विद्यते यस्य तच्छ्रीमत्, पुनरपि कथंभूतं ? सर्वभाषास्वभाकं सर्वभाषास्वभावो यस्य तदित्थंभूतं, तव वागमृतं प्रीणयति संतर्पयति, कान् ? प्राणिनः, किंवत् ? अमृतं यद्वत् अमृतं यथा, किं विशिष्टं ? व्यापि, क्व ? संसदि समवसरण रूपायां सभायाम् ।।१२।।

आगे भगवान् के वचनों का अतिशय दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (श्रीमत्) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने रूप लक्ष्मी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहित, (सर्वभाषास्वभावकम्) समस्त भाषाओं रूप परिणमन करने वाले स्वभाव से युक्त तथा (ससदि) समवसरण सभा में (व्यापि) व्याप्त होने वाला (तव) आपका (वागमृतं) वचन रूप अमृत (अमृतं यद्वत् अमृत के समान (प्राणिनः) प्राणियों को (प्रिणयति) संतुष्ट करता है।

भावार्थ—यहां भगवान् की दिव्यध्वनि का वर्णन किया गया है, भगवान् की दिव्यध्वनि समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन की क्षमता रखती है तथा श्रोता जिस भाषा का जानकार है उसी भाषा रूप परिणमन कर उसकी जिज्ञासा को पूर्ण करती है। साथ ही देवरचित अतिशय के कारण वह दिव्यध्वनि समवसरण के समस्त क्षेत्र में सुनाई पड़ती है। भगवान् के वचन अमृत के समान आह्लादकारी होते हैं अतः वे समस्त प्राणियों को—न केवल मनुष्यों को किन्तु चतुर्विध देव और पशु पक्षियों तक को अमृतपान के समान ही संतुष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

नन्वेकान्तेऽपि वाचो वास्तवार्थप्रतिपादकत्वेन प्राणिनां संतर्पकत्वसंभवान्न कश्चिद्भवदीयवचोऽतिशयः संभवतीत्याशङ्क्याह—

अनेकान्तात्म दृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३ ॥

अनेकान्तेत्यादि—ते तव, यानेकान्तात्मदृष्टिरनेकान्तात्मकं मतं सा सति, सत्या विपर्यय एकान्त दृष्टिरूपः शून्योऽसत्यः यथा चैकान्तोऽसत्यस्तथा 'अन्वर्थसंज्ञः' इत्यादि प्ररूपितं, ततः एकान्ताश्रयेण सर्वं निरवशेषं मृषाऽसत्यमनृतमुक्तं स्यात्। कथं मृषोक्तं तत्स्यादिति चेत् ? तदयुक्तं यतस्तया एकान्तदृष्ट्याऽयुक्तं सर्वं वक्तुमनुचितं। कुतस्तया तदयुक्तं ? स्वघाततः स्वशब्देन सदसदा द्येकान्तो गृह्यते तस्य घातः स्वघातस्तस्मात्। नहि नीलसुखादिपदार्थप्रपञ्चप्ररूपणाया शून्यैकान्तः सत्ताद्येकान्तो वा न विरुध्यते यतस्तया तद्घातो न स्यात् ॥ १३ ॥

आगे अनेकान्त दृष्टि ही समीचीन है यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपकी (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकान्त रूप दृष्टि (सती) सत्यार्थ है उससे (विपर्ययः) विपरीत एकान्तमत (शून्यः) शून्यरूप असत् है (ततः) इसलिये 'तदयुक्तं) उस अनेकान्त दृष्टि से रहित (सर्वं) सब (उक्तं) कथन (स्वघाततः) स्वघातक होने से (मृषा) मिथ्या रूप है। अथवा (ततः) एकान्तमत के आश्रय से (उक्तं) कहा हुआ (सर्वं) समस्त वस्तुस्वरूप (मृषा) असत्य है तथा (स्वघाततः) स्व घातक होने से (तद्) वह (अयुक्तं) अनुचित है।

भावार्थ—पूर्व श्लोक में कहा गया था कि हे भगवन् ! आपका वचन रूप अमृत सब जीवोंको संतुष्ट करने वाला है उसका कारण स्पष्ट करते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि आपकी जो अनेकान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप दृष्टि है—आप जो स्याद्वाद के द्वारा पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी अनेक अन्तों–धर्मों का प्रतिपादन करते हैं वह यथार्थ है तथा यथार्थ होने से सब जावों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है। इसके विपरोत अन्यमतावलम्बी जो पदार्थों में पाये जाने वाले सद्‌असद्, नित्य, अनित्य, आदि धर्मोंका एकान्त रूपसे निरूपरण करते हैं वह द्वितीय पक्ष को अग्राह्य होने से अप्रिय रहता है उसके संतोष का कारण नहीं हो पाता है। चूंकि संसार का प्रत्येक अनेकान्तात्मक–अनेक धर्मात्मक है इसलिये उन अनेकान्तों–अनेक धर्मो की उपेक्षा पर एकान्त रूप से जो भी कथन होगा वह मिथ्या होगा और मिथ्या होने से अग्राह्य होगा । वह एकान्त कथन द्वितीय पक्ष से रहित तो होता ही है पर उसके विना स्वपक्ष का भी समर्थक न हो सकने के कारण स्वघातक भी होता है। इसका स्पष्ट विवेचन 'अन्वर्थसंज्ञः सूमतिमुंनिरुचं' इत्यादि सुमति जिनेन्द्र के स्तवन में देखना चाहिये । नील, पीत आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर हो रहे हैं तथा सुख दुःख आदि का अनुभवप्रत्येक सचेतन प्राणी को होता है इसलिये नील पीत आदि गुणों के आधारभूत अचेतन पदार्थ तथा सुख दुःखादि के अनुभव रूप सचेतन पदार्थ का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है इस दशा में एकान्त रूपसे शून्य वाद को निरूपित करना मिथ्या है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थो में क्षण क्षण में होने वाला परिवर्तन चूंकि बुद्धि गोचर है इसलिये पदार्थ को सर्वथा सद्‌रूप अथवा नित्य रूप कैसे स्वीकृत किया जा सकता है ? और क्षण क्षण में होने वाले समस्त परिणमन चूंकि अन्वय रूप से किसी एक द्रव्य से संबद्ध अवश्य रहते हैं इसलिये उसकी उपेक्षा कर पदार्थ को सर्वथा असद्‌रूप अथवा अनित्यरूप कैसे माना जा सकता है ? इन सबके परिप्रेक्ष्य में अनेकान्त दृष्टि को ही समीचीन दृष्टि कहा जा सकता है। हे अर जिनेन्द्र ! आपने इसी अनेकान्त दृष्टि का कथन किया है इसलिये आपके वचन अमृत के समान सब जीवों को आल्हाद कारी हैं ।। १३ ।।

नन्वनेकान्ते सुखनीलादेर्विरोधादिदोषसंभवात् कथमसौ युक्त इत्याशङ्क्याह—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ।। १४ ।।

ये इत्यादि—ये एकान्तवादिनः परस्मिन्ननेकान्ते स्खलित दोषो विरोधादिस्तस्मिन्नुन्निद्रा व्यपगतनिद्रास्तद्दर्शने पटवः, स्वदोषेभनिमीलिनः स्वस्मिन्सदाद्येकान्ते सुखनीलादेर्विरोधादिदोषे इभनिमीलनं येषां, यथेभः पश्यन्नप्यपश्यन्निव वर्तते तथैते स्वदोषं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीति । कथंभूतास्ते ? तपस्विनो वराकाः किं स्वपक्षसाधनं परपक्ष दूषणं वा कुर्युर्नैव कुर्युः । कुतः ? अपात्रमभाजनं ते यतः, कस्याः ? त्वन्मतश्रियः तव मतं त्वन्मतं द्वादशाङ्गादिलक्षणं तस्य श्रीर्यथावस्तुस्वरुप विवेचकत्वं तस्याः ।। १४ ।।

आगे अनेकान्त दृष्टि में संभवित दोषों का परिहार करते हैं—

अन्यार्थ—(ये) जो एकान्त वादी (परस्खलितोन्निद्राः) पर–अनेकान्तमत में स्खलित-विरोध आदि दोषों के देखने में उन्निद्र–जागृत रहते है और (स्वदोषेभनिमीलिनः) स्व–अपने सदेकान्त आदि एकान्त में दोष—स्वघातत्व आदि दोषों के विषय में इभ निमीलिन—गज निमीलन से युक्त हैं अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते हैं (ते) वे (तपस्विनः) बेचारे (किं कुर्युः) क्या करें–स्वपक्ष सिद्धि और पर पक्ष के निराकरण में वे असमर्थ हैं तथा [त्वन्मतश्रियः] आपके मत रूपी लक्ष्मी के [अपात्रं] अपात्र हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—एकान्त वादी जन अनेकान्त वाद में विरोध आदि दोषों का निरूपण करते हैं परंतु अपने द्वारा प्रतिपादित एकान्तवाद में आने वाले दोषों के प्रति गज निमलिन का व्यवहार करते हैं अर्थात् जिस प्रकार हाथी जब कभी देखता हुआ भी नहीं देखता है उसी प्रकार ये एकान्त वादी भी एकान्त वाद में आने वाले दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते है—उन्हें उपेक्षित कर देते हैं अथवा एक अर्थ यह भी हो सकता है कि ये एकान्त वादी जन दूसरे पक्ष के अल्पतम दोषों को देखने के लिये तो सदा उनींदे रहते हैं–जागृत रहते हैं और अपने पक्ष में आने वाले हाथी जेसे बड़े बड़े दोषों के प्रति नेत्र बन्द कर लेते हैं ऐसे लोग दयनीय हैं–दया के पात्र हैं और आपके मत की लक्ष्मी–वस्तु के यथार्थ स्वरूप के कथन करने की कला से रहित हैं। ऐसे लोग क्या कर सकते हैं ? उनमें न स्वपक्ष के समर्थन की शक्ति है और न पर पक्ष के निराकरण की ॥ १४ ॥

ननु सर्वमेतदयुक्तं वस्तुनो वाचामगोचरत्वादित्यत्राह—

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्वावक्तव्यतां श्रिताः॥ १५ ॥

ते इत्यादि—ते एकान्तवादिनः, तं स्वघातिनं दोषं स्वं हन्तीत्येवं शीलं, शमीकर्तुं परिहर्तुम्, अनीश्वराः असमर्थाः, त्वद्द्विषः त्वामनेकान्तवादिनं द्विषन्तीति, स्वहनः स्वमात्मानं घ्नन्तीति, बालाः यथावस्तुस्वरुपानभिज्ञाः तत्वावक्तव्यतां श्रिताः आश्रिताः, अवक्तव्यं हि तत्वमभ्युपगच्छद्भिस्तैरात्मनो न किञ्चिद्रूपं प्ररुप्यत इत्यात्म घातिनस्ते अनेकधर्मात्मनो वस्तुनः क्रमेण वक्तव्यसंभवेऽप्यवक्तव्यत्वाभ्युपगमाद् बाला इति ॥ १५ ॥

अब तत्व की अवक्तव्यता का निराकरण करते हैं–

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी (तं) उस पूर्वोक्त (स्वघातिनं) स्वघाती दोष को (शमीकर्तुं) शमन करने के लिये (अनीश्वराः) असमर्थ हैं, (त्वद्द्विषः) आप–अनेकान्त वादी से दोष रखते हैं, (स्वहनः) अपने आपका घात करने वाले हैं, (बालाः) यथा वद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं और इसीलिये (तत्वावक्तव्यतां श्रिताः) तत्व की अवक्तव्यता का आश्रय लेते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनेकान्तदृष्टि से आपने कहा था कि पदार्थ सत् है, असत् है, नित्य है, अनित्य है इस पर एकान्त वादियों ने यह आपत्ति उठाई थी कि नहीं, वचनों के अगोचर होने से

१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु अवक्तव्य ही है। इसका उत्तर देते हुए यहां कहा गया है कि जो तत्व को सर्वथा अवक्तव्य मानते हैं वे स्वघातकत्व दोष का निराकरण करने में समर्थ नहीं हैं, वे आपसे द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं अपने पक्ष का स्वयं घात करते हैं, तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण बाल हैं अज्ञानी हैं। वस्तु में पाये जाने वाले सत्, असत्, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि बिरोधी धर्म एक साथ नहीं कहे जा सक्ते इस अपेक्षा से वस्तु में अवक्तव्यता है और क्रम से उनका कथन होता है इस अपेक्षा से वस्तु में वक्तव्यता है इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि से वक्तव्यता और अवक्तव्यता का उल्लेख न कर एकान्त रूप से सर्वथा किसी एक धर्म का उल्लेख करना दोष युक्त है ॥ १५ ॥

कीदृशास्तर्हि प्रतिपत्तुरभिप्रायाः सत्याः सत्याः कीदृकाश्चासत्याइत्याह--

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥ १६ ॥

सदित्यादि—संश्च एकश्च नित्यश्च वक्तव्यश्च इत्येवंविधा ये नयाः, तद्विपक्षाश्च असदमेकावक्तव्याश्च ये नयास्ते प्रदुष्यन्ति प्रकर्षेण दुष्टा भवन्तीति असत्या भवन्ति। कथं सर्वथेति सर्वप्रकारेणेति। कथं तर्हि ते सत्या भवन्तीत्याह—पुष्यन्तीत्यादि—स्वार्थप्रतिपादने निर्बाधत्वेन पुष्टा भवन्ति, स्यादित्यनेनोपलक्षिताः सन्तः, इह जगति, ते तव, मते ॥ १६ ॥

आगे वक्ता के कैसे अभिप्राय सत्य हैं और कैसे असत्य हैं यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सदेकनित्यवक्तव्याः) सद्, एक, नित्य, वक्तव्य (च) और (तद्विपक्षाः) इनसे विपरीत असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य (ये नयाः) ये जो नय हैं (ते) वे (इह) इस जगत् में (सर्वथा इति) सर्वथा रूप से (प्रदुष्यन्ति) वस्तु तत्व को अत्यधिक विकृत करते हैं—सदोष बनाते हैं और (स्यात् इति) स्यात् कथंचित् रूप स वस्तु तत्व को (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं।

भावार्थ—वक्ता के अभिप्राय का नय कहते हैं। वक्ता कभी पदार्थ को सत् कहता है, कभी एक कहता है, कभी नित्य कहता है कभी वक्तव्य कहता है और इनके विपरीत कभी असत् कहता है, कभी अनेक कहता है, कभी अनित्य कहता है और कभी अवक्तव्य कहता है। वक्ता के ये सब कथन ही नय हैं यदि ये नय सर्वथा रूप से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादक मानेजावें तो वे वस्तु में पाये जाने वाले विरोधी धर्म के निषेधक होन से वस्तु को विकृत कर देते हैं—दोष युक्त बना देते हैं इसलिये नय न रह कर कुनय या मिथ्या नय हो जाते हैं और जब स्यात्-कथचित् रुप से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादक होते हैं तव विरोधी धर्म के निषेधक न होन से वस्तु को पुष्ट करते हैं—उसके पूर्ण स्वरूप का विवेचन करते हैं इसलिये सुनय कहलाते हैं। यहां 'प्रदुष्यन्ति' और 'पुष्यन्ति' प्रयोग क्रम से 'दुष वैकृत्ये' और 'पुष पुष्टौ' इन परस्मैपदी तुदादिगणी धातुओं के कर्तृवाच्य के रूप हैं सकर्मक क्रियाएं हैं इसलिये 'वस्तुतत्व' इस कर्म की ऊपर से कल्पना कर लेनी चाहिये। इस स्थिति में 'प्रदुष्यन्ते' और पुष्यन्ते' इन पाठान्तरों की कल्पना आवश्यक नहीं है ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याच्छब्दस्य गुणमाह—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥ १७ ॥

सर्वथेत्यादि—सदेव-असदेवेत्यादिको नियमः सर्वथानियमस्तं त्यजतीत्येवंशील स्तत्त्यागी, कोऽसौ ? स्याच्छब्दः, पुनरपि कथंभूतः ? यथादृष्टमपेक्षकः येन प्रकारेण सदसदित्यादिरूपेण दृष्टं प्रमाणप्रतियन्नं यथादृष्टं बहिरन्तश्च तत्वम्, अपेक्षतेऽन्वेषते, क्व इत्थंभूतः स्याच्छब्दः ? तावके न्याये त्वदीयायामनेकान्तात्मिकायां नीतौ न अन्येषामेकान्तवादिनाम्, कथंभूतानाम् ? आत्मविद्विषाम् आत्मवैरिणाम्, कथं तेषामात्मवैरित्वमिति चेत् ? सदाद्येकान्ताभ्युपगमेन तैरात्मनो विद्वेषणात् ॥ १७ ॥

अब स्यात् शब्द की महिमा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वथानियमत्यागी) सर्वथा रूप नियम का त्याग करने वाला तथा (यथादृष्टमपेक्षकः) यथादृष्टप्रमाणसिद्ध वस्तु स्वरूप की अपेक्षा रखने वाला (स्याच्छन्दः) स्यात् शब्द [तावके न्याये] आपके न्याय में है [आत्मविद्विषाम्] अपने आपके वैरी [अन्येषां] अन्य एकान्त वादियों के न्याय में [न] नहीं हैं ।

भावार्थ—'स्यात्' यह कथंचित् अर्थको कहने वाला निपात संज्ञक अव्यय है । यह स्यात् शब्द सर्वथा इस नियम को दूर से ही छोड़ता है अर्थात् वस्तु सत् ही है एक ही है, नित्य ही है अवक्तव्य हो है इस प्रकार के नियम रूप कथन का निषेध करने वाला है और सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य वक्तव्य-अवक्तव्य इस तरह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा द्विविधरूपता को लियें हुए वस्तुका स्वरूप जैसा देखने में आता है-प्रत्यक्षादि प्रमाणों मे जैसा सिद्ध है वैसा निरूपण करता है । तत्वविवेचना के पारस्परिक विरोध को दूर करने के लिये अमोघास्त्र के सामान यह 'स्यात्' शब्द हे भगवन् आपके ही न्याय में है स्वपक्ष का हनन करने वाले अन्य एकान्तवादी दर्शनकारों के मत में नहीं है ॥ १७ ॥

ननु भगवन्मते येन रूपेण जीवादिवस्तु नित्यादिस्वभावं तेन किं कथंचित् तत् तथा सर्वथा वा ? यदि सर्वथा तदेकान्तप्रसंगादनेकान्तक्षतिः, अथ कथंचित् तदाऽनवस्थेत्याशङ्क्याह—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकान्तोऽपीत्यादि—अनेकान्तोऽपि न केवलं सम्यगेकान्त इत्यपि शब्दार्थः, कथंभूतः ? अनेकान्तः कथंचित् स्यादित्यर्थः, पुनरपि कथंभूतः ? प्रमाणनयसाधनः प्रमाणे च नयाश्च साधनं यस्य। एतदेव दर्शयन्ननेकान्त इत्याद्याह-प्रमाणात् साधनादनेकान्तः सिध्यति, ते तव मते, सकलादेशः प्रमाणाधीनः, इत्यभिधानात्। तदेकान्तः तस्मिन्ननेकान्ते एकान्तस्तदेकान्तः प्रतिनियतधर्मः, स कस्मात्सिद्धयति ? नयात्, कथंभूतात् ? अर्पिताद्विवक्षितात 'विकलादेशो नयाधीन' इति वचनात्॥ १८ ॥

अब अनेकान्त रूप हैं यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपके मत में (अनेकान्तोऽपि) अनेकान्त भी (प्रमाणनय साधनः) प्रमाण और नय रूप साधनों से युक्त होने के कारण (अनेकान्तः) अनेकान्त स्वरूप है। (प्रमाणात्) प्रमाण की अपेक्षा (अनेकान्तः) अनेकान्त स्वरूप है और (अर्पितात् नयात् विवक्षित नय से (तदेकान्तः) अनेकान्त में एकान्त स्वरुप है।

भावार्थ—वस्तु के यथार्थ स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये भगवान् ने जिस अनेकान्त को अङ्गीकृत किया है वह अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरुप माना गया है क्योंकि अन्य वस्तुओं के समान अनेकान्त का भी प्रतिपादन करने के लिये प्रमाण और नय ये दो ही साधन स्वीकृत किये गये हैं। 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, इस वाक्य के अनुसार जो पदार्थ के परस्पर विरोधी समस्त धर्मों को ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं और 'विकलादेशो नयाधीनः' इस वाक्य के अनुसार जो परस्पर विरोधी धर्मों में से एक को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। जब प्रमाग के द्वारा अनेकान्त का ग्रहण करते हैं तब अनेकान्त अनेकान्त स्वरुप रहता है और जब किसी विवक्षित नय के द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं तब अनेकान्त एकान्तस्वरुप रहता है। यहां 'अनेकान्तः' इस पद के साथ 'अपि' शब्द का पाठ किया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि न केवल सम्यग् एकान्त अनेकान्त स्वरुप है किन्तु अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरुप है ॥ १८ ॥

प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह—

इति निरुपमयुक्तशासनः प्रियहितयोगगुणानुशासनः।
अरजिन दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः॥ १९ ॥

इतीत्याह—[१अपरवक्त्रच्छन्दः] इति एवं, निरूपमं उपमाया निष्क्रान्तं युक्तशासनं

१-अयुजि ननरला गुरुः समेन्जमपरवक्त्रमिदं ततो जरौ' जिसके प्रथम और तृतीय चरण में नगण मगण रगण लघु और गुरु इस क्रमसे ११ अक्षर हों तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में नगण. जगण. जगण और रगण इस क्रम से १२ अक्षर हों उसे अपरवक्त्र छन्द कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युक्तं प्रमाणोपपन्नं शासनं मतं यस्य । युक्तिशासन इति च क्वचित्पाठः । निरुपमा निर्बाधा युक्तिः प्रत्यक्षादिलक्षणा यस्य शासने मते इति । प्रियहित योग गुणानुशासनः प्रियाः सुखदाः हिताः परिणाम पथ्या स्ते च ते योगगुणाश्च योगाः प्रशस्त मनोवाक्कायव्यापाराः गुणाः सम्यग्दर्शनादयस्तेषामनुशासनः अनुशासकः, इत्थंभूत अरजिन ! अरसंज्ञकजिन ! दमतीर्थ नायकः दमस्येन्द्रियजयस्य सूचकं तीर्थं प्रवचनं तस्य नायकः प्रवर्तक स्त्वमिव सतां पण्डितानां प्रतिबोधनाय प्रतिबोधनार्थं कोऽन्यो नैव कश्चित् ॥ १९ ॥

अब प्रकृत अर्थ का संकोच करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (अर जिन) हे अर जिनेन्द्र ! आप (निरुपमयुक्तशासनः) उपमा रहित-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त शासन से सहित हैं, (प्रियहित योगगुणानुशासनः) सुखदायक तथा फलकाल में हितकारक मन वचन काय के प्रशस्त व्यापार रुप योग और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाले हैं तथा (दम तीर्थनायकः) इन्द्रिय विजय को सूचित करने वाले आगम के नायक हैं। हे नाथ ! (त्वमिव) आपके समान (सतां प्रतिबोधनाय) विद्वज्जनों को प्रतिबोध देने के लिये (अन्यः कः) दूसरा कौन है ? कोई नहीं है।

भावार्थ—सत् पुरुषों को प्रतिबोध देने वाले वक्ता में सर्व प्रथम इस गुण की आवश्यकता है कि उसका शासन अनुपम तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणों से संगत अथवा युक्ति युक्त हो, पश्चात् उसके मन वचन काय की प्रवृत्ति सुख दायक और हित कारक हो तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाला हो तदनन्तर संयम के मार्ग में जनता को अग्रेसर करने के लिये जितेन्द्रियता के समर्थक आगम का प्र तंक हो। ऊपर के विवेचन से वक्ता के समस्त गुण अर जिनेन्द्र में विद्यमान थे इसलिये कहा गया है कि भगवन् ! आपके समान दूसरा वक्ता और कौन हो सकता है—कोई नहीं ॥ १९ ॥

इदानीं स्तुतेः फलं याचमान आह–

मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः ।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥२०॥

मतीत्यादि—मतेर्बुद्धेर्गुणो यथावदर्थ परिच्छेदकत्वं तस्य विभवः संपत्तिस्तस्यानुरुपतो यावन्मतिगुणविभव इत्यर्थः, त्वयि विषये, वरद ! आगमदृष्टिरुपतः आगमेन दृष्टिदर्शनं परिज्ञानं भवद्गुणानां तस्या रुपं तस्मादागमदृष्टिरुपतः आगम प्रतिपादित भवद्गुणानतिक्रमेणेत्यर्थः, गुणकृशमपि गुणाना भवद्गुणानां कृशमपि स्तोकमपि लेशोऽपि किंचन किंचित्, उदितं व्यावर्णितं, मम स्तोतुः भवताद् भूयात्, दुरिता सनोदितं दुरितं पापं तस्य असनं क्षेपणं विनाशनं तस्मिन् उदितमुदयसमर्थम् ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब स्तुति के फल की याचना करते हुए कहते हैं--

अन्वयार्थ—[हे वरद] हे वर को प्रदान करने वाले अर जिनेन्द्र ! मैंने [मतिगुणविभानुरूपतः] अपनी बुद्धि के गुणों की सामर्थ्य के अनुरूप तथा आगम से प्राप्त हुई दृष्टि के अनुसार [त्वयि] आपके विषय में [गुणकृशमपि] आपके गुणों का जो कुछ थोड़ा सा [उदितं] वर्णन किया है वह वर्णन [मम] मेरे [दुरितासनोदितम्] पापों के नष्ट करने में समर्थ [भवतात्] होवे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप में अनन्त गुण हैं उन सब गुणों का उल्लेख करने की क्षमता मुझ में कहां है ? मैं तो अपने क्षायोपशमिक मतिज्ञान तथा आगम दर्शन से प्राप्त श्रुतज्ञान के अनुसार आपके गुणों का अत्यन्त अल्प—लेशमात्र ही वर्णन कर सका हूं सो इस अल्पतम गुण वर्णन के फल स्वरूप आप से यहीं वर चाहता हूं कि मेरा यह प्रयास मेरे पाप कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो । जो कार्य मनुष्य के पुरुषार्थ से सिद्ध न होकर किसी दिव्य पुरुष की वाक्सिद्धि–वचन बल से सिद्ध होता है वह वर कहलाता है । हे भगवन् आप वरद हैं—उक्त लक्षण वाले वर को देने वाले हैं । अपने पाप कर्मों का क्षय करना मेरे पुरुषार्थ से परे हैं इसलिये आप जैसे वरद से मैं इस फल की याचना करता हूँ ।। २० ।।

इत्यरजिन स्तवनम्

श्रीमल्लिजिनस्तवनम्

यस्य महर्षेः सकलपदार्थप्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१॥

यस्येति—१सान्द्रपदं २श्रीर्वानवासिका३वा छन्दः४ । यस्य मल्लिनाम्नस्तीर्थंकरदेवस्य, कथंभूतस्य ? महर्षेः महान् इन्द्रादीनां पूज्यः सचासौ ऋषिश्च तस्य, किं ? समजनि संजातः, कोऽसौ ? सकल पदार्थप्रत्यवबोधः सकलाश्च ते पदार्थाश्च तेषां प्रतिसमन्तात् अव-

---

१'सान्द्रपदं म्तौ गनलघुमिश्च' जिसके प्रत्येकचरण में भगण, तगण, गुरु, नगण और लघु इस क्रम से ११ अक्षर हों उसे सान्द्रपद छन्द कहते हैं । २ 'वाणरसैः स्याद्भतनगगैः श्रीः, जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, नगण, गुरु और गुरु इस क्रम से ११ अक्षर हों तथा ५ और ६ अक्षर पर यति हो उसे श्री छन्द कहते हैं । ३ जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं हों और उनमें ९ वीं तथा १२ वीं मात्रा लघु हो उसे वनवासिका कहते हैं । ४ छन्दोमञ्जरी में इसे 'स्यादनुकूला भतनगगाश्चेत्' जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, नगण, गुरु और गुरु इस क्रम से ११ अक्षर हों उसे अनुकूला छन्द कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशेषविशेषतो बोधः परिज्ञानं, कथं समजनि ? साक्षात् परिस्फुटतया, अतएव प्रणिपतति स्म, प्रणतं संजातं,, किं तत् ? जगत्, कथंभूतं ? सर्वंमपि, पुनरपि कथंभूतं ? सामरमर्त्यं अमराश्च मर्त्याश्च तैः सह वर्तते इति सामरमर्त्यं, किं कृत्वा ? प्राञ्जलि भूत्वा, प्रबद्धाञ्जलि भूत्वा ॥१॥

केवलज्ञान होनेपर भगवान् को सब प्रणाम करते थे यह कहते हैं--

अन्वयार्थ—(यस्य महर्षेः) जिन महर्षि के (सकल पदार्थं प्रत्ययबोधः) जीवादि समस्त पदार्थों को सब ओर से अशेषविशेषता के साथ जानने वाला केवल ज्ञान (साक्षात्) स्पष्ट रूप से (समजनि) उत्पन्न हुआ और इसलिये जिन्हें (सामरमर्त्यं) देवों तथा मनुष्यों से सहित (सर्वंमपि जगत्) सभी संसार ने (प्राञ्जलि भूत्वा) बद्धाञ्जलि होकर (प्रणिपतति स्म) प्रणाम किया। उन मल्लि जिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ।

भावार्थ—जो मल्लिनाथ भगवान् इन्द्रादि के द्वारा पूज्य महान् ऋषि थे तथा समस्त पदार्थों को पूर्ण रूप से जानने वाला केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जिन्हें देवों और मनुष्यों से सहित समस्त संसार ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया था मैं उन मल्लिनाथ जिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥१॥

भगवदीयं शरीरं वचनं चैवंविधमित्याह—

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृत परिवेषा।
वागपि तत्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

यस्यचेत्यादि—यस्य मल्लितीर्थंकरदेवस्य मूर्तिश्च शरीरं च, कथंभूता ? कनकमयीव सुवर्णेन निर्वृत्ता इव, पुनरपि कथंभूतेत्याह-स्वेत्यादि-स्वस्य स्फुरन्तीचासौ आभा च दीप्तिः स्फुरदाभा तया कृतः परिवेषः सकलशरीरव्याप्तिर्भामण्डलं वा यस्यां सा तथोक्ता, न केवलं मूर्तिरेवंविधा किन्तु वागपि वचनमपि यस्येति सम्बन्धः, किंविशिष्टा ? कथयितुकामा प्रकाशयितुकामा, किं तत् ? तत्वं यथावद्वस्तुस्वरूपं, अचेतनापीयमुपचारादेवमुच्यते यथा 'भिक्षा वासयतीति'। सा इत्थंभूता वाक् किं करोतीत्याह-रमयति प्रीताननुरक्तान् करोति, कान् ? साधून् भव्यान्, कथंभूता ? स्यात्पदपूर्वा स्यादिति पदं पूर्वं यस्याः सा स्यात्पदपूर्वा स्यात्पदी पलक्षितेत्यर्थः ॥२॥

आगे भगवान् के शरीर और वचन का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(कनकमयीव) सुवर्ण से निर्मित के समान (स्वस्फुर दाभाकृत परिवेषा) अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देदीप्यमान आभा से समस्त शरीर में व्याप्त भामण्डल को करने वाली (यस्य मूर्तिः) जिनकी मूर्ति-शरीराकृति (च) और (तत्वं कथयितु कामा) वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छुक एवं (स्यात्पदपूर्वा) स्यात्पद से सहित (यस्य) जिनकी (वागपि) वाणी भी (साधून्) भव्य जीवों को (रमर्यात) प्रसन्न करती है। उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं।

भावार्थ—जिन मल्लिनाथ भगवान् का शरीर ऐसा जान पड़ता था मानों सुवर्ण से ही रचा गया तथा अपनी देदीप्यमान आभा से सब ओर भामण्डल का निर्माण कर रहा था तथा जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाली जिनकी वाणी स्यात् पद से चिह्नित थी। इस तरह उनका शरीर और वाणी दोनों ही भव्य जीवों को अनुरक्त बना रही थी। मैं उन मल्लिनाथ भगवान् की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥ २ ॥

ननु प्रमाणबाधितासौ भविष्यतः कथंभूतान् रमयतीत्याह--

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥३॥

यस्येत्यादि--यस्य भगवतः पुरस्तादग्रतः प्रतितीर्थ्या एकान्तवादिनो न विवदन्ते न विप्रतिपत्तिं कुर्वन्ति, क्व ? भुवि पृथिव्याम्, कथंभूताः ? विगलितमाना विगलितो विनष्टो मानो दर्पो येषां ते तथोक्ताः। अतः कथं प्रमाणबाधिता तद्वाग्, भगवत्समागमने भूमिरपीत्थंभूता संजातेत्याह–भूरपि इत्यदि–भूरपि पृथिव्यपि रम्या रम्या मनोज्ञा, पदं पदं प्रतिपदं, आसीत् संजाता, कथंभूतेत्याह–जातेत्यादि–विकोशानि विकसितानि च तानि अम्बुजानि पद्मानि जातस्तै मृदुः कोमलो हासो यस्याम् ॥३॥

अब भगवान् के विहार के समय होनेवाली पृथिवी की विशेषता दिखलाते हैं--

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके (पुरस्तात्) आगे (विगलितमानाः) गलितमान हुए (प्रतितीर्थ्याः) एकान्तीवादी जन (भुवि) पृथिवी पर (न विवदन्ते) विवाद नहीं करते थे और जिनके विहार के समय (भूरपि) पृथिवी भी (प्रति पदं) डग डग पर (जात विकोशाम्बुजमृदुहासा) विकसित कमलों से कोमल हास को धारण करती हुई (रम्या) मनोहर (आसीत्) हुई थी उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं।

भावार्थ—स्यात्पद से सुशोभित भगवान् मल्लिनाथ की वाणी इतनी निर्विवाद थी कि विरोधी जन उनके सामने सब विरोध भूल जाते थे मान रहित होकर उनकी शरण में आने लगते थे। इसी प्रकार जब उनका विहार होता था तब डग डग पर देव लोग कमलों की रचना करते थे उन खिले हुए कमलों से पृथिवी ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानों मन्द मन्द हास से अपनी प्रसन्नता ही प्रकट कर रही हो इसीलिये मैं उनकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं भगवतो वचनप्रतिग्राही शिष्यसंपदं दर्शयन्नाह—

यस्य समन्ताज्जिन शिशिरांशोः शिष्यक साधुग्रह विभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जनन समुद्रत्रासितसत्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥४॥

यस्येत्यादि—यस्य मल्लिनाथस्य समन्तात्सर्वतः अंशव इव किरणा इव अंशवो वचनविशेषा वस्तुस्वरूपप्रकाशकत्वात् शिशिराः सकललोकाप्यायकत्वेन शीतला अंशवो वचनानि यस्य स तथोक्तः जिनश्चासौ शिशिरांशुश्च तस्य, शिष्यक साधुग्रह विभवोऽभूत् शिष्यकाश्च ते साधवश्च यतयो भव्या वा त एव ग्रहास्तारका स्तेषां विभवः संपत्, अभूत् संजातः, न केवलं तद्विभव एवाभूत् किन्तु तीर्थमपि श्रुतमप्यभूत्, कथंभूतं ? स्वमात्मीयम्, पुनरपि कथंभूतमित्याह-जननेत्यादि जननं जन्म संसारः तदेव समुद्रो दुःपारत्वात् तेन त्रासिता भयं नीतास्ते च ते सत्वाश्च तेषामुत्तरणपथः अतएव सकल तीर्थेभ्योऽग्रं प्रधानं तत् ॥४॥

अब भगवान् की शिष्य संपदा का वर्णन करते हैं---

अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशोः) जिन मल्लि जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा के (समन्तात्) चारों ओर (शिष्यकसाधुग्रहविभवः) शिष्यसाधु रूप ग्रहों का-ताराओं का विभव (अभूत्) विद्यमान था और जिनका (स्वं) अपना (तीर्थमपि) शास्त्र भी जनन समुद्र त्रासित सत्त्वोत्तरणपथः अग्रम्) संसार रूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों के पार उतरने का प्रधान मार्ग था उन मल्लि जिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—यहां मल्लि जिनेन्द्र में चन्द्रमा का आरोप किया है जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें शीतल होती हैं उसी प्रकार मल्लि जिनेन्द्र के वचन जो कि वस्तु स्वरुप के प्रकाशक होने से किरण कहलाते थे शीतल थे और जिस प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर ग्रहों —ताराओं का विभव विद्यमान रहता है उसी प्रकार मल्लि जिनेन्द्र के चारों ओर शिष्य साधुओं का —शिष्यावस्था को प्राप्त हुए मुनियों अथवा भव्य जीवों का विभव विद्यमान रहता था। इतना ही नहीं मल्लि जिनेन्द्र का जो अपना तीर्थ था—श्रुत या शासन था वह भी संसार-समुद्र से भयभीत प्राणियों को पार उतरने के लिये अग्र श्रेष्ठ मार्ग था। इन्हीं सब कारणों से मैं उनकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥४॥

ननु प्रागुक्त विशेषण विशिष्टोऽपि भगवान् कथं कर्मणां प्रक्षयं कुर्याद्यतः सकल पदार्थ प्रत्यवबोधभाक् सकल कर्म विप्रमोक्षलक्षणमोक्षभाग् भवेदित्याह--

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्य चेत्यादि—यस्य भगवतः शुक्लं च ध्यानं परमतपोऽग्निः परमं च तत्तपश्च तदेवाग्निरशेषकर्म निर्दाहकत्वात् तद्रूपं यतः शुक्लं ध्यानं तद्दुरितमष्टकर्म रूपम् अधाक्षीत्, कथंभूतं दुरितं ? अनन्तं न केनचिदन्तः कर्तुं शक्यते यस्य, एकत्ववितर्कावीचारलक्षणेन हि शुक्लध्यानेन घातिकर्माणि दग्धानि अतः सकलार्थावबोध संभवः, व्युपरत क्रियानिवृत्ति लक्षणेन तु शेषकर्माणि ततः सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणमोक्षसंभवः, तं जिनसिंहं तं प्रागुक्तविशेषणविशिष्टं जिनश्चासौ सिंहश्च जिनानां मध्ये यः सिंहः प्रधानस्तं मल्लिं मल्लिनामानं तीर्थंकरदेवं, कथंभूतं ? कृतं, करणीयं संसारोच्छेदलक्षणं येन, पुनरपि कथंभूतं ? अशल्यं न सन्ति मायादीनि शल्यान्यस्य, शरणं इतो गतोऽस्मि भवामि ।।५।।

अब भगवान् के शुक्ल ध्यान की महिमा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(च) और (यस्य) जिनके (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यान रूप (परम तपोऽग्निः) उत्कृष्ट तपोऽग्नि ने (अनन्तं) अन्त को प्राप्त न होने वाले (दुरितं) अष्ट कर्म रूप पाप को (अधाक्षीत) दग्ध किया था (तं) उन (जिनसिंहं) जिनश्रेष्ठ (कृतकरणीयं) कृतकृत्य, (अशल्यं) माया मिथ्यात्वादि शल्यो से रहित [मल्लि] मल्लि जिनेन्द्र की [शरणमितोऽस्मि] शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—आभ्यन्तर तप के छह भेदों में शुक्ल ध्यान नामका तप सर्वोत्कृष्ट तप है । इसके चार भेद हैं १ पृथक्त्ववितर्क वीचार २ एकत्ववितर्का वीचार, ३ सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति और ४ व्युपरत क्रिया निर्वति । इस तप को अग्नि का रूपक दिया गया है । जिस प्रकार अग्नि अपरिमित इन्धन के समूह को भस्म कर देती है उसी प्रकार यह तप भी अनन्त कर्म परमाणुओं को भस्म कर देता है । पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका पहला शुक्लध्यान दशमगुणस्थान के अन्त में मोह कर्म का क्षय करता है । एकत्व वितर्कावीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों तथा नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है । सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्त में अनन्त कर्म परमाणुओं की निर्जरा करता है और व्युपरतक्रियानिर्वति नामका चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त समय में क्रम से बहत्तर और तरह कर्म प्रकृतियों का क्षय करता है । मल्लिनाथ भगवान् ने उक्त चतुर्विध शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अनन्त परमाणुओं को भस्मसात् किया था । चौबीसतीर्थंकरोंमें वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान ये पांच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी होने से अपनी खास प्रधानता रखते हैं इसलिये यहां मल्लि जिनेन्द्र को जिनसिंह – जिनश्रेष्ठ कहा गया है । मल्लि जिनेन्द्र संसारोच्छेद रूप कार्य कर चुके थे इसलिये कृत कृत्य थे तथा माया मिथ्या और निदान इन तीनों शल्यों से रहित थे । अथवा 'अशल्यं यथास्यात्तथा मल्लिं शरणमितोऽस्मि' इस तरह 'अशल्यं' पद क्रिया विशेषण है मैं माया, मिथ्या और निदान इसत्रिविधशल्य को छोड़कर मल्लि जिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूं ।।५।।

इति मल्लि जिनस्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥१॥

अधिगतेत्यादि — १ वैतालीयं छन्दः। शोभनानि च तानि व्रतानि च सुव्रतानि मुनीनां सुव्रतानि मुनिसुव्रतानि तेषां स्थितिः सा अधिगता निश्चिता येन स तथोक्तः। कोऽसौ ? मुनिसुव्रतः अनेनान्वर्थसंज्ञा भगवतः प्रतिपादिता, पुनरपि कथंभूतो ? मुनिवृषभो मुनिनायकः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अनघो न विद्यतेऽघं घातिकर्मचतुष्टयंरूपं पापं यस्य स इत्थंभूतो भगवान्, निर्बभौ विराजितवान्, क्व ? मुनि परिषदि समवसरणे, क इव क्वेत्याह—उड्वित्यादि — उडूनां नक्षत्राणां परिषत् संघातः तया परिवीतः परिवेष्टितः स चासौ सोमश्चन्द्रस्तद्वत् ॥१॥

अब भगवान् के मुनिसुव्रत इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं।

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनि सुव्रतस्थितिः) जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को अधिगत – सुनिश्चित अथवा प्राप्त कर लिया है, जो (मुनि वृषभः) मुनियों में श्रेष्ठ हैं, और जो (अनघः) चार घातिया कर्म रूपी पाप से रहित हैं ऐसे (भवान्) आप (मुनिसुव्रतः) 'मुनिसुव्रत' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र (मुनिपरिषदि) समवसरण के बीच मुनियो की सभा में (उडुपरिषत्परिवीत सोमवत्) नक्षत्रों के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा के समान (निर्बभौ) सुशोभित हुए थे।

भावार्थ—भगवान् मुनिसुव्रत नाथ ने मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों की स्थितिको अच्छी तरह जान ही नहीं लिया था किन्तु अपने आचरण में उतार भी लिया था इसलिये उनका 'मुनिसुव्रत' नाम सार्थक नाम था। वे गणधरादि अन्यमुनियों में श्रेष्ठ होने से 'मुनिवृषभ'— मुनिश्रेष्ठ थे तथा घातिया कर्मों से रहित होने के कारण 'अनघ'– निष्पाप थे। समवसरण में गणधरादि मुनियों के बीच वे ऐसे सुशोभित होते थे जैसे नक्षत्र समूह के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ १ ॥

---

१ वदन्त्यपरवक्त्राख्यं वैतालीयं विपश्चितः' वृत्तरत्नाकर के इस उल्लेख के अनुसार 'अपरवक्त्र' का ही दूसरा नाम वैतालीय है। अपर वक्त्र का लक्षण अरजिन स्तवन के १६ वें श्लोक की टिप्पणी में दिया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवतः शरीरातिशयमाह--

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया।
तव जिन तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥२॥

परिणतेत्यादि---१अनन्तर श्लोके वपुरित्यास्ते तदिहाभिसंबन्ध्यते तेनेत्थं व्याख्यायते -- शोभितं, किं तद् ? वपुः, कस्य ? तव, हे जिन ! कया ? कृतमदनिग्रह विग्रहाभया मदो मदनो दर्पो वा कृतो मदनस्य निग्रहो येन स चासौ विग्रहश्च तस्याभा दीप्ति स्तया, अथवा कृतमदनिग्रहेति सम्बोधनान्तं जिनस्य विशेषणं, कथम्भूतयेत्याह -- परिणतेत्यादि परिणतो युवावस्थः सचासौ शिखी च मयूरस्तस्य कण्ठ स्तस्य राग इव रागो यस्याः सा तथोक्ता रागः छाया सादृश्य मित्यर्थः, पुनरपि कथंभूतया ? तपसः प्रसूतया अनशनादिलक्षणं तपस्तस्मात् प्रसूतया जातया, क इव शोभितमि त्याह-- ग्रहेत्यादिग्रहस्य चन्द्रमसः परिवेषो मण्डल तस्य रुक् दीप्तिस्तयेव, ॥२॥

अब भगवान् के शरीर का अतिशय करते हैं —

अन्वयार्थ— (कृत मद निग्रह) काम अथवा अहंकार का निग्रह करने वाले (जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! (परिणत शिखि कण्ठ रागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली (तपसः प्रसूतया) तप से उत्पन्न (तव विग्रहाभया) आपके शरीर की आभा—चारों ओर फैलने वाली दीप्ति (ग्रहपरिवेष—रुचेव) चन्द्रमा के परिवेष—परिमण्डल की दीप्ति के समान (शोभितं) सुशोभित हुई थी।

भावार्थ—कामविकार अथवा सब प्रकार के अहंकार का नाश कर मुनिसुव्रत जिनेन्द्र तपश्चरण में लीन थे। उनका शरीर तरुण मयूर के कण्ठ के समान नील वर्ण था। यद्यपि उनका वह शरीर स्वभावतः प्रभा से युक्त था तथापि तपश्चरण के निमित्त से वह और भी अधिक प्रभा पूर्ण हो गया था। तपश्चरण

---

१ इस श्लोक को व्याख्या करते समय संस्कृत टीका कार ने अग्रिम श्लोक से 'वपुः' शब्द लिया है तथा दूसरे और तीसरे श्लोक को युग्म माना है पर यह उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उस स्थिति में ग्रह परिवेष रुचेव शोभितं' यहां उपमान की कल्पना करना अलग से पड़ती है तथा तृतीय श्लोक में 'तव' पाठ की निरर्थकता होती है। मेरी समझ से द्वितीय श्लोक में भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के शरीर का वर्णन न कर मात्र उसकी आभा का वर्णन किया गया है। 'शोभितं' पद भाव वाचक का प्रत्ययान्त है इसलिये उसके योग में 'विग्रहाभय' यह कर्तृपद तृतीयान्त हो गया है। 'कृतमदनिग्रह' यह सम्बोधनान्त पद जिनका विशेषण है तीसरे श्लोक में शरीर वचन और मन की विस्मयनीयता का वर्णन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कारण उनके शरीर की प्रभा शरीर के चारों ओर मण्डल बना कर व्याप्त हो गई थी उससे वह ऐसी सुशोभित होती थी जैसी कि चन्द्रमा के चारों ओर उसके परिवेष—परिमण्डल की कान्ति सुशोभित होती है ॥२॥

पुनरपि कथं भूतं वपु रित्याह—

शशिरूचिशुचिशुक्ल लोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥३॥

शशीत्यादि— शशी चन्द्रस्तस्य रूचिर्दीप्तिस्तद्वच्छुचि निर्मलं शुक्लं लोहितं रूधिरं यस्य, सुरभितरं सुगन्धितरं, विरजो विगतं रजो यस्य, निजमात्मीयं वपुः, शरीरं, तव हे यते ! महामुने ! शिवं प्रशस्तं शुभं, अतिविस्मयं, यदपि च वाङ्मनसोद्भव मीहितं चेष्टितं तदप्यति विस्मयम् ॥३॥

भगवान् का शरीर कैसा था यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यते) हे महामुनिराज, ! (शशि रुचि शुचि शुक्ल लोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित और (विरजः) रज रहित-मल रहित जो (तव) आपका (निज वपुः) अपना शरीर था वह (शिवं) अत्यन्त शुभ तथा (अति विस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाला (च) और (वाङ्मनसीयम्-अपि) वचन तथा मन की भी (यत् ईहितं) जो चेष्टा (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली है ।

भावार्थ -माता पिता के रज वीर्य रूप एक सदृश उपादानों से उत्पन्न होने पर भी अन्य मनुष्यों का शरीर लाल रुधिर से युक्त होता है, दुर्गन्धित होता है तथा मल मूत्र से युक्त होता है परन्तु तीर्थं कर जिनेन्द्र का शरीर जन्म से ही चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त होता है अत्यन्त सुगन्धित रहता है और मल मूत्र तथा पसीना आदि की बाधा से रहित होता है इससे सिद्ध होता है कि हे भगवन् ! आपका शरीर अत्यन्त शुभ तथा सब को आश्चर्य में डालने वाला है । शरीर के समान आपके वचन और मन की जो प्रवृत्ति है वह भी आश्चर्य में डालने वाली है । क्योंकि संसार के समस्त मनुष्यों के वचन इच्छा पूर्वक प्रकट होते हैं परन्तु आपके दिव्यध्वनि रुप वचन आपकी इच्छा के विना ही प्रकट होते है । अन्य मनुष्यों के वचन जिस भाषा रूप उच्चरित होते हैं उसी भाषा रूप रहते है परन्तु आपके दिव्यध्वनि रूप वचन सर्व भाषारूप परिणत हो जाते थे । संसार के अन्य मनुष्यों के मन की प्रवृत्ति आजीवन स्थिर रहती है परन्तु केवल ज्ञान हो जाने पर आपके मन की प्रवृत्ति रुक जाती है । संसार के अन्य मनुष्यों के मन राग द्वेष से दूषित रहते हैं परन्तु आपका मन उनमे दूर रहता है ॥३॥

संस्कृत टीका के आधार पर द्वितीय औद तृतीय श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे मुनि सुव्रत जिनेन्द्र ! (तव) आपका (वपुः) शरीर (परिणत शिखिकण्ठ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्ण वाली, (तपसः) अनशनादि तप से (प्रसूतया, उत्पन्न (कृतमदनिग्रह विग्रहा भया) मदनमद अथवा गर्व का निग्रह करने वाले शरीर की आभा से उस तरह (शोभितं) शोभित हुआ था जिस तरह (ग्रहपरिवेषरुचा 'चन्द्र' इव) परिवेष की कान्ति से चन्द्रमा। आपका वह (निजं) अपना (वपुः) शरीर (शशिरुचि शुचि शुक्ल लोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित (विरजः) रज रहित; (शिवं) शुभ तथा (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला था (च) और (यते) हे महामुनिराज! आपके (वाङ्मनसीयमपि) वचन और मन की भी (यत्) जो (ईहितं) चेष्टा थी (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली थी ॥ २-३ ॥

सर्वज्ञतालिङ्गं चेदमित्याह—

स्थितिजनन निरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

स्थितीत्यादि—स्थितिः ध्रौव्यं जननमुत्पादो निरोधो विनाशस्तल्लक्षणं स्वरूपं यस्य तथोक्तं, किं तत्? जगत्, कथंभूतं? चरमचरं च चेतनाचेतनारूपमित्यर्थः, किं कदाचित् तत् तथाभूतमित्यत्राह–प्रतिक्षणं क्षणंक्षणं प्रति, इति एवं, यद्वचनं तत्, ते तव, जिन, सकलज्ञलाञ्छनं सर्वज्ञताचिह्नं, किंविशिष्टस्य ते? वदतां वरस्य वदतां तत्वनुपदिशतां मध्ये वरस्य श्रेष्ठस्य ॥ ४ ॥

अब भगवान् की सर्वज्ञता के परिचायक वचनों की महिमा दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र! (चरं) चेतन (च) और (अचरं) अचेतन रूप (जगत्) संसार (प्रतिक्षणं) क्षण क्षण में (स्थिति जनननिरोधलक्षणं) ध्रौव्य उत्पाद और व्यय रूप लक्षण से युक्त है (इति इदं) इस प्रकार का यह जो (वदतां वरस्य ते) वक्तृप्रवर आपका (वचनं) वचन है [तत्] वह [सकलज्ञलाञ्छनं] सर्वज्ञ का चिह्न है–आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है।

भावार्थ—संवाद अर्थात् जो पदार्थ जैसा गया हो उसका वैसा ही पाया जाना पदार्थ की यथार्थता का लक्षण है और पदार्थ की यथार्थता वक्ता की श्रेष्ठता तथा उसकी ज्ञानसम्पन्नता को सूचित करती है। हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र! आपने जो कहा था कि यह चराचर विश्व प्रतिक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अर्थात् पर्याय की अपेक्षा इसमें नवीन पर्याय उत्पन्न होती है पूर्व पर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा द्रव्य की अपेक्षा सामान्य अंश दोनों पर्यायों में विद्यमान रहता है, वह प्रत्यक्ष ही अनुभव में आ रहा है इस तरह विसंवाद–विरोध से रहित आपके यह वचन सूचित करते हैं कि आप वदतां वर हैं–वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं और सर्वज्ञ हैं ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवतोऽपाय प्राप्तिपादनपूर्वकं स्तोता स्तुतेः फलं याचमान आह—

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान्भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥५॥

दुरितेत्यादि—अभवत् संजातः, कोऽसौ ? भवान् मुनिसुव्रततीर्थंकरदेवः, कथंभूतः अभवत् ? सौख्यवान्, भवे संसारे सौख्यमिन्द्रिय प्रभवं भवसौख्यं न भवसौख्यमभवसौख्य मतीन्द्रियमोक्ष सौख्यमित्यर्थः तदस्यास्तीति तद्वान्, किं कुर्वन् सौख्यवानभवत् ? निर्दहन् भस्मसात्कुर्वन्, किं तत् ? दुरितमलकलङ्कं दुरितं कर्म तदेव मलो जीवस्वरूपप्रच्छादकत्वात्, तेन कलङ्क आत्मन उपलेपस्तं, कथंभूतं ? अष्टकं ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं, केन निर्दहन् ? निरुपमयोगबलेन योगः समाधिः शुक्लध्यानलक्षणो निरुपमश्चासौ योगश्च तस्य बलं सामर्थ्यं तेन स, इत्थंभूतो भगवान् भवतु अस्तु, किमर्थं ? भवोपशान्तके संसार विनाशाय, कस्य ममापि स्तोतु रपि न केवलं स्वात्मन एव ॥ ५ ॥

अब स्तोता स्तुति के फल की याचना करता है—

अन्वयार्थ—हे भगवन् (निरुपमयोगबलेन) अनुपम शुक्लध्यान के बल से (अष्टकं) आठ प्रकार के दुरितमलकलङ्कं) कर्म मल कलङ्क को (निर्दहन्) जलाते हुए (भवान्) आप (अभवसौख्यवान्) मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय सुख से युक्त (अभवत्) हुए हैं, ऐसे आप (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी । भवोपशान्तये) संसार की उपशान्ति के लिये (भवतु) होवे ।

भावार्थ—जो जिस वस्तु को प्राप्त कर चुकता है उसी से उस वस्तु की याचना की जाती है। हे भगवन् ! आप अनुपम शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी मल के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कलङ्क-विकारी भावों को भस्म कर मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय आत्म सुख के उपभोक्ता बन चुके हैं इसलिये मैं याचना करता हूं कि आप मुझ समन्तभद्र के भी संसार की उपशान्ति के लिये हों-आपका निमित्त पाकर मेरी आत्मा में भी शुक्ल ध्यान रूपी प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो और उसकी सामर्थ्य से मैं भी आठ कर्मों के निमित्त से होने वाले कलङ्क को भस्म कर अविनाशी आत्मसुख का पात्र बनूं ॥ ५ ॥

इति मुनिसुव्रत जिनस्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री नमिजिनस्तवनम्

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् १

स्तुतिरित्यादि—१शिखरिणीच्छन्दः । स्तुतिः स्तोत्रं कुशलपरिणामाय कुशलं पुण्यं तस्य साधकः परिणामः कुशलपरिणामः तस्मै, भवतीत्याध्याहार्यम्, कस्य ? स्तोतुः स्तुतिकर्तुः, कथंभूतस्य ? साधोर्भव्यस्य, स स्तुत्यः तदा स्तुतिकाले उपलक्षणमेतद्देशस्य तत्र भवेन्मा वा भवेत् 'नायंमाङ्तो माङि लुङ्' इति लुङ् भवति, ततः स्तुत्यात् फलमपि स्वर्गादिकं भवेन्मा वेति योग्यं, तस्य च सतः, चो यस्मादर्थे, तस्य स्तोतुः सतो विद्यमानस्य, यस्मात्कुशलपरिणाम-प्रसाध्यपुण्यविशेषादेव तत्फलं संभवति अतश्च स कथं प्रेक्षापूर्वकारी भवन्तं न स्तुयादित्याह–किमेवमित्यादि किं न त्वा स्तुयाऽपि तु स्तुयादेव, कोऽसौ ? विद्वान् विवेकी, कस्मिन् सति ? श्रायसपथे श्रेयो निःश्रेयसं तदधिकृत्य कृतः श्रायसः 'देविकाशिंशपा दीर्घ सत्रश्रेयसामा' इत्येकारस्याकारः स चासौ पन्थाश्च सम्यग्दर्शनादिलक्षणो मोक्षमार्गस्तस्मिन् , कथंभूते ? सुलभे सुखप्राप्ते, क्व ? जगति, कस्मात्, स्वाधीन्यात् आत्मायत्तत्वात्, कथम् ? एवमुक्तप्रकारेण, कथंभूतं त्वां नमिजिनं नमिनामानं जिनं तीर्थंकरदेवं, पुनरपि कथंभूतं ? सततमभिपूज्यं सततं सर्वदा अभि समन्तादिन्द्रादीनां पूज्यमाराध्यम् ।१।

अन्वयार्थ—(स्तुतिः) भगवान् की स्तुति, (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (साधोः) भव्य पुरुष के (कुशल परिणामाय) पुण्यसाधक–प्रशस्त परिणाम के लिये होती है (तदा) स्तुति के काल अथवा स्तुति के देश में (सः स्तुत्यः) वह स्तुति का पात्र आराध्यदेव (भवेत् मा वा) हो अथवा न हो (च) और (ततः) उस स्तुत्य से (तस्य सतः) उस स्तुति करने वाले भव्य पुरुष को (फलमपि) स्वर्गादि फल की प्राप्ति भी (भवेन्मा वा हो अथवा न हो (एवं) इस प्रकार [जगति] संसार में [स्वाधीन्यात्] स्वाधीनता से [श्रायस पथे] कल्याण अथवा सम्यग्दर्शनादिमोक्ष सम्बन्धी

---

१ 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसमला गः शिखरिणी' जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु इस क्रम से १७ अक्षर हों तथा ६ वें और ११ वें अक्षर पर यति हो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्ग के (सुलभे 'सति') सुलभ रहने पर (किं) क्या (विद्वान्) विचार पूर्वक कार्य करने वाला विवेकी जन (सततं) सदा [अभिपूज्यं] इन्द्रादि के द्वारा पूज्य [त्वां नमि जिनं] आप नमि जिनेन्द्र की [न स्तुयात्] स्तुति न करे ? अवश्य करे।

भावार्थ—जिस काल अथवा जिस क्षेत्र में जिसकी स्तुति की जा रही है वह उस काल अथवा उस क्षेत्र में विद्यमान हो या न हो तथा उससे स्तुति करने वाले को इष्ट फल की प्राप्ति हो अथवा न हो परन्तु यह निश्चित है कि स्तुति, स्तुति करने वाले भव्यपुरुष के पुण्य परिणाम का कारण अवश्य होती है—स्तुति से उसे पुण्यबन्ध में सहायक प्रशस्त परिणाम की प्राप्ति अवश्य होती है। इस तरह संसार में कल्याण का मार्ग स्तोता के आधीन है, स्तुत्य के आधीन नहीं। स्वाधीनता के कारण स्तोता को वह कल्याण का मार्ग सुलभ भी हैं इस सुलभता के रहते हुए भी ऐसा कौन विवेकी होगा जो इन्द्रादि के द्वारा पूज्य नमिजिनेन्द्र की स्तुति न करेगा। यहां समन्तभद्र स्वामी से कोई यह प्रश्न करता हुआ सा जान पडता है कि हे समन्तभद्र ! तुम इस समय वर्तमान क्षेत्र में जिन नमि जिनेन्द्र के स्तवन को उद्यत हो रहे हो वे यहां विद्यमान नहीं है फिर उनके अभावमें तुम उनका स्तवन कैसे कर सकते हो ? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि मैं जिननमि जिनेन्द्र की स्तुति करना चाहता हूं वे यहां न भी रहे और न उनका दिया हुआ कुछ फल भी मुझे प्राप्त हो पर मेरी उनके प्रति जो भक्ति है वह मेरे परिणाम को निर्मल अवश्य बनानी है परिणाम की निर्मलता ही कार्य कारी है परिणाम की निर्मलता के बिना आराध्य देव मेरा कुछ हित नहीं कर सकते। इस तरह मेरे कल्याण का मार्ग मेरे आधीन है नमिजिनेन्द्र के सद्भाव या असद्भाव के आधीन नहीं। जब यह बात है तब मैं इन्द्रादि के द्वारा पूज्य नमि-जिनेन्द्रकी स्तुति क्यों न करूं ? विद्वान्-विवेकी तो वही है जो प्रत्येक स्थिति में अपना कार्य सिद्ध कर ले १

किं तेन कृतं येनेत्थं पूज्योऽसौ संपन्न इत्याह—

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन्खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥ २ ॥

त्वयेति—त्वया नमितीर्थंकरदेवेन, धीमन् ! विशिष्टबुद्धियुक्त ! निर्भिन्नं विनाशितं, किं तत् ? जन्मनिगलं जन्मैव निगलं बन्धनं, कथं निर्भिन्नं ? समूलं तत्कारणभूतकर्मणा सहेत्यर्थः, कथंभूतेन त्वया ? ब्रह्मप्रणिधिमनसा ब्रह्मणि परमात्मस्वरूपे प्रणिधिः प्रणिधामेकाग्रता यस्य तत्तथाभूतं मनो यस्य तेन, यतस्त्वया तन्निर्भिन्नं ततः त्वमसि भवसि मोक्ष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदवी मोक्षमार्गः, केषां ? विदुषां विपश्चिताम् । ननु सुगतादिभिरपि तन्निर्भिन्नं भविष्यत्यतस्तेऽपि तत्पदवीरूपाः स्युरित्यत्राह—त्वयीत्यादि—त्वयि नमिजिने, कथंभूते ? शुचिरवौ शुचिर्निर्मलो रविः शुचिकाले वा आषाढकाले रविः तस्मिन् तद्रवाविव, तद्रवौ किं कुर्वति ? भाति, कैरित्याह—ज्ञानेत्यादि—ज्ञानमेव केवलस्वरूपं ज्योतिस्तस्य विभवः सम्पत्तिः स एव किरणास्तैः इत्थं त्वयि भाति सति हे भगवन् ! अभूवन् संजाताः, के ? अन्यमतयः भवत्प्रणीततत्वादन्यस्मिंस्तत्वे मतिर्बुद्धिर्येषामीश्वर कपिल सुगतादीनां, ते कथंभूता अभूवन् ? खद्योता इव खे आकाशे द्योतन्त इति खद्योताः कीटकविशेषाः त इव हतप्रतापाः संजाता इत्यर्थः ।। २ ।।

नमि जिनेन्द्र ने ऐसा कौन कार्य किया जिससे वे इस प्रकार पूज्य हुए यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(हे धीमन्) हे विशिष्ट बुद्धि से युक्त नमि जिनेन्द्र ! (ब्रह्मप्रणिधिमनसा) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले (त्वया) आपके द्वारा (जन्मनिगलं) संसार रूपी बन्धन (समूलं) मूल—कारण सहित (निर्भिन्नं) नष्ट किया गया है इसलिये (त्वम्) आप (विदुषां) विद्वानों के लिये (मोक्षपदवी , मोक्षमार्ग स्वरूप (असि) है । (भगवन् हे भगवन् ! (त्वयि) आपके (ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैः) केवलज्ञान ज्योति की संपदा रूप किरणों के द्वारा (भाति 'सति') सुशोभित होने पर (अन्यमतयः) सुगत कपिल ईश्वर आदि अन्यमतावलम्बी जन (शुचिरवौ) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के देदीप्यमान रहने (खद्योता इव) जुगनुओं के समान (अभूवन्) हो गये थें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन चित्त होकर आपने संसार रूपी बन्धन को चूंकि जड़ सहित काट दिया है इसलिये आप विवेकजनों के लिये मोक्ष मार्ग हुए हैं—आपका अनुकरण कर विवेकी जन मोक्ष को प्राप्त होते हैं । यदि यहां कोई यह कहे कि सुगत—कपिल ईश्वर आदि अन्य मतावलम्बी भी तो तत्व का प्रतिपादन कर लोगों को मोक्ष मार्ग बतलाते हैं फिर एक आपही मोक्ष मार्ग कैसे हो सक्ते हैं ? तो उसका उत्तर यह है कि हे भगवन् ! चूंकि आप निर्मल सूर्य के समान केवल ज्ञान रूप किरणों से सुशोभित हो रहे हैं अतः आपके सामने अन्यमतावलम्बी लोग ठीक उस तरह हत प्रभाव हो जाते हैं जिस तरह कि ग्रीष्मऋतु के सूर्य के सांमने जुगनू' नामका कीट विशेष ।। २ ।।

इदानीं सप्तभङ्गसमाश्रयणेन भगवता यथा तत्वमुपदिष्टं तथा प्रदर्शयन्नाह—

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपितद्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठ गुरुणा
त्वया गीतं तत्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ।। ३ ।।

विधेयमित्यादि—त्वया नमितीर्थंकरदेवेन, गीतं कथितं, किं तत् ? तत्वं जीवादि॰

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुतो ? बहूनयविवक्षेतरवशात् बहवश्च ते नयाश्च नैगमादयस्तेषां विवक्षा च इतरा चाविवक्षा तयोर्वशादायत्तत्वात् । कथं तद्वशात्तत्प्रतिपादितमित्याह—विधेयमित्यादि—विधेयं स्वरूपचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं, वार्यं चापि पररूपादि चतुष्टयापेक्षया नास्तित्वं, च समुच्चये अपि संभावने, अनुभयमवाच्यं युगपत्तयोर्वक्तु मशक्यत्वात्, उभयं च अस्तिनास्तिरूपं क्रमविवक्षितस्वपरचतुष्टयापेक्षया, मिश्रमपि स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यं च तत्तत्वं । एते सप्तभङ्गाः कैर्भवन्ति ? विशेषैस्त्रिकालधर्मैः, कथं ? प्रत्येकं एकमेकं प्रतिप्रत्येकं कथभूतैर्नियम विषयैः सप्तधैव नाधिका भङ्गा इति योऽय नियमस्तद्विषयैः, पुनरपि कथंभूतै विशेषैः ? अपरिमितैः एकस्यापि वस्तुनोऽनन्त धर्म संभवात्, पुनरपि कथंभूतैः ? सदान्योन्यापेक्षैः सदा सर्वकालं अन्योऽन्यापेक्षैः परस्परापेक्षैः स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्वं हि पररूपादिचतुष्टयेन सत्वमपेक्ष्यते । एवं मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वंमित्यादि । कथंभूतेन त्वयेत्याह—सकलेत्यादि--सकलं च तदभुवनं च तस्य ज्येष्ठो महान् सचासौ गुरुश्च आराध्य स्तेन ॥ ३ ॥

अब सप्तभंगों के आश्रय से भगवान् ने तत्व का उपदेश दिया है यह दिखाते है—

अन्वयार्थ--हे भगवन् ! (सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा) समस्त संसार के महान् गुरु स्वरूप (त्वया) आपने (बहुनय विवक्षेतर वशात्) अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के वश (प्रत्येकं) विधि निषेध, मूर्त अमूर्त, स्थूलसूक्ष्म आदि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य कर (नियम विषयैः) 'भङ्ग' सात ही होते हैं हीनाधिक नहीं' इस नियम के विषय भूत और सदान्योन्यापेक्षैः सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले (अपरिमितैः) अनन्त (विशेषैः) त्रैकालिक धर्मों के द्वारा (तत्तत्वं) उस वस्तु स्वरूप को (विधेयं) विधिस्वरूप (वार्यं) निषेध स्वरूप, (उभयं) विधिनिषेध स्वरूप, (अनुभयं) अवक्तव्य स्वरूप (च) और (मिश्रमपि) मिश्ररूप भी—अर्थात् स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, तथा स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य इस तरह सात भङ्गरूप (गीतं) कहा है ।

भावार्थ —संसार के प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व, नास्तित्व, मूर्तत्व अमूर्तत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, एकत्व अनेकत्व आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं । कथन करते समय इन प्रत्येक धर्मो के सात सात ही भङ्ग होते हैं न कम और न अधिक । क्योंकि प्रत्येक धर्म के मूलतः विधि, निषेध और अवक्तव्य के भेद से तीन भङ्ग होते हैं पश्चात् तीन भङ्गों को परस्पर में संयुक्त करने से इनके सात भङ्ग हो जाते हैं जैसे अस्तित्व धर्म को लिजिये । इसके सात भङ्ग इस प्रकार होते हैं स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व है, पर चतुष्यटयकी अपेक्षा अस्तित्व नहीं है नास्तित्व है स्वचतुष्टय और पर चतुष्टय की एक साथ अपेक्षा करने पर वस्तु का कथन नहीं हो सकता इसलिये अवक्तव्य है, स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की क्रम से अपेक्षा करने पर अस्तित्व—नास्तित्व है, अस्तित्व के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर अस्तित्व अवक्तव्य है, नास्तित्व के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर नास्तित्व अवक्तव्य है और अस्तित्व नास्तित्व दोनों के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर अस्वित्व नास्तित्व अवक्तव्य है । इस तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्व धर्म के सात ही भङ्ग होते हैं सात से न कम होते हैं और न अधिक होते हैं। पदार्थ में पाये जाने वाले ये सब धर्म सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तथा इन सबका कथन द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा नैगमादि अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के आधार पर होता है वक्ता जिस समय जिस धर्मको जिस नय से कहने की इच्छा रखता है उस समय वह धर्म वह नय मुख्य हो जाता है और शेष धर्म तथा शेष नय गौण हो जाता है। हे नेमिनाथ जिनेन्द्र ! आप समस्त जगत् के श्रेष्ठतम गुरु हो इसीलिये अपने वस्तुस्वरुप का मनन कर उसे १ विधेय—विधिरुप, २ वार्य-प्रतिषेध्य रुप, ३ उभय—विधेय और प्रतिषेध्य रूप, ४ अनुभय-अवक्तव्य रूप तथा मिश्ररूप [५ विधेय अवक्तव्य, ६ प्रतिषेध्य-अवक्तव्य और ७ विधेय प्रतिषेध्य-अवक्तव्य] इन सात भङ्गोंरुप कथन किया है ॥ ३ ॥

परमपि भगवतो गुणमाह—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्नच विकृतवेषोपधिरतः ॥ ४ ॥

अहिंसेत्यादि—अहिंसा दया भगवता जगति लोके विदिता यथावद्ज्ञाता, विदितमित्येतल्लिङ्गपरिणामेनाभि सम्बन्ध्यते, सा केषां ? भूतानां प्राणिनां, तथा ब्रह्म परमात्मस्वरूपं ब्रह्मचर्यं वा परममुत्कृष्टं जगति विदितं यथावज्ज्ञातं। न अहिंसा तत्र तस्मिन्नाश्रमविधौ पाषण्डि प्रकारे यत्र यस्मिन् तद्विधौ आरम्भो व्यापारोऽस्ति, कथंभूतः ? अणुरपि च स्वल्पोऽपि न केवलं महान्, यत एवं ततः तस्मात्कारणात तत्सिद्ध्यर्थं तस्या अहिंसायाः सिद्ध्यर्थं निरतिचाराहिंसाव्रतसिद्ध्यर्थं ग्रन्थं परिग्रहमुभयं बाह्यमाभ्यन्तरं च भवानेव न सुगतादिः अत्याक्षीत् परित्यक्तवान्, किंविशिष्टः ? परमकरुणः परमा करुणा दया यस्य। तथाभूतस्यापि भगवतो यथाजातलिङ्गविरोधी कश्चिद् विकारादिर्भविष्यतीत्यत्राह—नचेत्यादि—वेषश्च जटामुकुट भस्मोद्धूलनादिः उपधिश्च वस्त्राभरणाक्षसूत्राजिनादि परिग्रहः, विकृतौ यथा जातलिङ्गाविरोधिनौ तौ च तौ वेषोपधी च तयो रत आसक्तो न च नैव ॥ ४ ॥

आगे निर्ग्रन्थ दशा के विना अहिंसा संभव नहीं है यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भूतानां) प्राणियों की (अहिंसा) अहिंसा (जगति) जगत् में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(परमं ब्रह्म) परम ब्रह्म रूप से (विदितं) प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम् ब्रह्म है परन्तु (सा) वह अहिंसा (तत्र) उस [आश्रमविधौ] आश्रम विधि में [न] नहीं है [यत्र] जिसमें कि [अणुरपि] थोड़ा भी [आरम्भः] आरम्भ होता है [ततः] इसलिये [तत्सिद्धयर्थं] उस अहिंसा धर्म को सिद्धि के लिये [परमकरुणः] परम दयालु होकर [भवानेव] आपने ही [उभयं—वाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दोनों प्रकार के [ग्रन्थ] परिग्रह को [अत्याक्षीत्] छोड़ा है [च] और [विकृत वेषोपधिरतः] यथा जात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त [न 'अभवत्'] नहीं हुए हैं।

भावार्थ—ब्रह्म का अर्थ उत्कृष्ट आतमस्वरूप अथवा ब्रह्मचर्य है। संसार में अहिंसा, इसी उत्कृष्ट आत्म स्वरूप अथवा ब्रह्मचर्य रूप मानी गई है अर्थात् अहिंसा और ब्रह्म ये दोनों पर्यायवाची शब्द है। संसार में अनेक मतावलम्वी लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक आश्रमों की स्थापना कर उनका लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति बतलाते हैं। उन आश्रमों में रहने वाले लोगों की जलावगाहन, जटा धारण, कन्दमूलादिभक्षण तथा पञ्चाग्नितप आदि जितनी क्रियाएं हैं वे सब अनेक जीवों की हिंसा से ओत प्रोत हैं। यही नहीं इनमें रहने वाले लोग नाना प्रकार के विकृत वेष धारण करते हैं कोई जटा रखाते हैं, कोई शिर पर मयूर पिच्छ का मुकुट धारण करते हैं और कोई शरीर में भस्म लपेटते हैं, परिग्रह त्याग का नियम लेकर भी नाना परिग्रह रखते हैं कोई पीताम्बर रखते हैं, कोई कण्ठाभरण रखते हैं, कोई अक्षसूत्र रखते हैं और कोई मृगचर्म व्यापचर्म तथा दन्ड, त्रिशूल आदि रखते हैं। इन सब की समीक्षा करते हुए समन्त भद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! जिस आश्रम विधि में महान् हिंसा तो दूर रही अणुमात्र भी हिंसा होती है वहां अहिंसा रूप परम ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी लिये आपने परम दयालु हाकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग किया है और ऐसा त्याग किया है कि नग्न दिगम्बर मुद्रा को दूषित करने वाले वेष और परिग्रह को पास भी नहीं आने दिया है। हे नमि जिनेन्द्र! यह सब भवानेव आप ही कर सके हैं संसार के अन्य देवी देवता इस आदर्श को नहीं प्राप्त कर सके हैं। इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं ॥४॥

यतएवंविधस्त्वं ततस्त्वदीयं वपुस्ते परम वीतरागतां कथयतीत्याह—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तकरणं।
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयम् ॥
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं।
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥५॥

वपुरित्यादि—ते तव, वपुः शरीरं, संचष्टे कथयति, कं? स्मरशर विषातङ्कविजयं स्मरः कामस्तस्य शरा बाणास्त एव विषं संतापमोहहेतुत्वात् तेनातङ्कश्चित्तपीडा स एव वा आतङ्कोऽप्रतीकारो व्याधिः तस्य विजयं विनाशं, कथंभूतं वपुरित्याह—भूषेत्यादि—भूषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कटककटिसूत्राद्यलंकारः, तस्या आसमन्ताद्वेषो व्याप्तिर्यथास्थानं विनिवेशः तेन व्यवधिर्वपुषः प्रच्छादनं तेन रहितं, पुनरपि कथंभूतं ? शान्तकरणं शान्तानि उपशान्तानि स्वस्वविषय स्पृहा व्यावृत्तानि करणानीन्द्रियाणि यस्य, पुनरपि कथंभूतमित्याह—अदयेत्यादि—न विद्यते दया यत्येत्यदयं हिंस्रं तच्च तद् हृदयं च तस्यामर्षः क्रोधस्तस्य विलयो विनाशो यत्र । ननु भगवानायुध रहित स्तत्कथं तज्जयः स्यादित्याह—विनेत्यादि—विना अन्तरेण भीमैर्भयानकैः शस्त्रैः प्रहरणैः, इत्थंभूतं वपुर्यतस्ते तज्जयं संचष्टे ततस्तस्मात्कारणात् त्वं नमितीर्थंकर-देवः शरणं असि भवसि, नोऽस्माकं, किंविशिष्टो ? निर्मोहः मोहान्निःक्रान्तो मोहो वा निःक्रान्तो यस्मात्, पुनरपि किंविशिष्टः ? शान्तिनिलयः सकलकर्मप्रक्षयस्य निलयः आश्रयः, शान्तिर्वा मुक्तिर्निलयः आश्रयो यस्य ॥५॥

आगे कहते हैं कि आपका शरीर ही वीतरागता को प्रकट कर रहा है——

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भूपावेषव्यवधि रहितं) आभूषण वेष तथा वस्त्रादिक के आवरण से रहित और (शान्तकरणं) अपने २ विषयों से निःस्पृह इन्द्रियों से युक्त (ते आपका (वपुः) शरीर (यतः) चूंकि (स्मरशरविषातङ्क विजयम्) काम के वाणरूप विष से उत्पन्न व्याधि—की विजय को तथा (भीमैः शस्त्रैः विना) भयंकर शस्त्रों के विना (अदयहृदयामर्षविलयं) निर्दयहृदय सम्बन्धी क्रोध के विनाश को (संचष्टे) कह रहा है (ततः) इसलिये (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित और (शान्तिनिलयः) कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति के स्थान हैं तथा (नः) हमारे (शरणम्) शरणभूत—रक्षक (असि) हैं ।

भावार्थ—संसार के अन्य मनुष्य कामवाणों के प्रहार से होनेवाली विकृति को वस्त्रादि के आवरण से छिपाकर अपने आपको स्वस्थ प्रकट करते हैं परन्तु हे नमिजिनेन्द्र ! आप तो वस्त्राभूषणादि से रहित सर्वथा दिगम्बर मुद्रा के धारक है आप काम विकार को कैसे छिपा सकते हैं ? इससे विदित होता है कि आपने काम विकार पर पूर्ण विजय प्राप्त करली है । संसारी मनुष्यों की चञ्चल इन्द्रियां उनके मानसिक विकार को प्रकट कर देती हैं पर आपकी इन्द्रियां अत्यन्त शान्त हैं इससे भी विदित होता है कि आप मानसिक विकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं । संसारी प्राणियों के हृदय में निर्दय क्रोध का वास है उस क्रोध के वशीभूत होकर वे भयंकर शस्त्रों द्वारा शत्रु का नाश कर अपने क्रोध को शान्त करना चाहते हैं परन्तु हे भगवन् ! आप भयंकर शस्त्रों के विना ही हृदय में बसने वाले क्रोध का बिलकुल नाश कर चुके हैं इससे सिद्ध होता है कि आप काम तथा क्रोध को जन्म देने वाले मोह से रहित हैं और मोह से रहित होने के कारण शान्ति के स्थान हैं । आप की इन सभी विशेषताओं से आकृष्ट होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ आप मेरी रक्षा कीजिये मेरे काम क्रोधादि विकारों को दूर कर मुझे आप शान्ति—सुख का स्थान बनाइये ॥५॥

इति नमिजिनस्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्यबुद्धकमलायतेक्षणः ॥ १ ॥

भगवानित्यादि--विषमजातौ १ उद्गतानाम छन्दः । भगवान् विशिष्टज्ञान वा निन्द्रादीनां पूज्यो वा, अरिष्टनेमिरिति द्वितीयवृत्तगतेनाभिसम्बन्धः, कथंभूतः ? ऋषिः परमर्द्धिसंपन्नः, पुनरपि कथंभूत इत्याह-परमेत्यादि--परमश्चासौ योगश्च शुक्लध्यानं स एव दहनः कल्मषं ज्ञानावरणादि कर्म तदेवेन्धनं तद्दहने हुतं शल्मषेन्धनं येनासौ परमयोग दहनहुतकल्मषेन्धनः, किं कृत्वा ? प्रतिबुद्धच प्रकाश्य ज्ञात्वा, किं तत् ? सकलं लोकालोक जातं, कैः ? ज्ञानविपुल किरणैः ज्ञानमेव विपुला विस्तीर्णा निरवशेषोद्योतनसमर्थाः किरणा रश्मयस्तैः, पुनरपि कथंभूतो ? बुद्धकमलायतेक्षणः बुद्धं विकसितं तच्च तत्कमलं कमलशब्देनात्र तत्पत्रमुच्यते तद्वदायते दीर्घे ईक्षणे लोचने यस्य स ॥ १ ॥

एतद्विशेषणविशिष्टो भगवान् कथंभूतः संजात इत्याह--

हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकाः ।
शीलजलधि रभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥ २ ॥

हरीत्यादि--अभवः आसीत् भूतवान् कथंभूतो ? विभवो विगतभवः संसारमुक्त इत्यर्थः, किंनामा त्वमित्याह-अरिष्टनेमीत्यादि--अरिष्टनेमिनामा अरिष्टानां कर्मणां नेमिश्चक्रधारा स चासौ जिनकुञ्जरश्च जिनानां देशजि--नानां कुञ्जरो नायकः प्रधानः, पुनरपि

---

१ प्रथमे सजौ यदि सलौ च, नसजगुवेकाण्यनन्तरम् ।
यद्यथ भनजलगाः स्युरथो सजसा जगौ च भवतीयमुद्गता ॥ (छन्दोमञ्जरी)

जिसके प्रथम चरण में सगण जगण, सगण और लघु, द्वितीय चरण में नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरण में भगण नगण, नगण, जगण, लघु और गुरु तथा चतुर्थ चरण में सगण, जगण सगण, जगण और गुरु हो उसे उद्गता छन्द कहते हैं । यह विषम जातिका छन्द है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथंभूतः ? अजरो न विद्यते जरा वार्द्धक्यमस्येति, पुनरपि किं विशिष्टः ? हरिवंशकेतुः हरिवंशे विष्णुवंशे केतुः ध्वजः, पुनरपि कथंभूतः ? अनवद्यविनयदमतीर्थनायकः न विद्यतेऽवद्यं दोषोऽनयोरित्यनवद्यौ तौ च तौ विनयदमौ च ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रोपचार भेदाद्विनयपञ्चविधः पञ्चेन्द्रियजयनाद्दमोऽपि, अनवद्यता चानयोर्मर्यादिरहितत्वात् तयोस्तीर्थं तत्प्रतिपादकं प्रवचनं तस्य नायकः प्रवर्तकः, पुनरपि किंविशिष्टः ? शीलजलधिः शीलानां जलधिः शीलसमुद्रः, ॥ २ ॥

इन विशेषणों से विशिष्ट भगवान् कैसे हुए यह बतलाते हैं--

अन्वयार्थ—(भगवान्) जो विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, (ऋषिः) जो परम ऋद्धियों से सम्पन्न हैं. (परमयोग दहनहुतकल्मषेन्धनः) उत्कृष्ट शुक्लध्यान रूपी अग्नि में जिन्होंने कर्मरूपी ईंधन को होम दिया है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल हैं (हरिवंशकेतुः) जो हरिवंश के प्रधान हैं, (अनवद्य विनयदम तीर्थनायकः) जो निर्दोष विनय ओर इन्द्रियदमन के प्रतिपादक शास्त्र के प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) जो शील के समुद्र हैं, और (अजरः) जो वृद्धावस्था से रहित हैं ऐसे (त्वं) आप (अरिष्टनेमि जिनकुञ्जरः) अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र (ज्ञान विपुल किरणैः) ज्ञान रूप विस्तृत किरणों के द्वारा (सकलं) समस्त लोकालोक को (प्रतिबुद्धय) प्रकाशित कर अथवा जानकर (विभवः) संसार से मुक्त [अभवः] हुए थे।

भावार्थ—इन श्लोकों में अरिष्ट नेमिजिनेन्द्र की शारीरिक, कौलिक तथा अध्यात्मिक विशेषता का वर्णन किया गया है। शारीरिक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे विकसित कमलदल के समान नेत्रों से युक्त थे तथा उनका शरीर जरा—बुढापा से रहित था। शलाका पुरुषों के शरीर में जरा का असर नहीं होता उनका शरीर जीवन पर्यन्त सोलह वर्ष के तरुण के समान रहा करता है फलतः नेमिजिनेन्द्र का शरीर भी वार्धक्य जनित विकार से रहित था। कौलिक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वे इस हरिवंश की पताका स्वरूप प्रधान करते हुए लिखा गया है कि वे उस हरिवंश की पताका स्वरूप प्रधान थे जिसकी कि स्थापना कर्मभूमि के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने की थी, अथवा तात्कालिक हरि—कृष्ण नारायण के वंश के शिरोमणि थे। आध्यात्मिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने उत्कृष्ट शुक्लध्यानरूपी अग्नि में कर्म रूपी ईंधन को होम दिया था, उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई थी, अष्टप्रातिहार्य रूप उत्कृष्ट ऐश्वर्य से वे युक्त हुए थे, केवल ज्ञान रूप विपुल–लोकालोक में प्रसरित होने वाली किरणों से उन्होंने सकल संसार को प्रकाशित किया था अथवा हित का उपदेश दिया था, दर्शन ज्ञान, चारित्र तप और उपचार के भेद से पांच प्रकार की विनय और पञ्चेन्द्रियों के दमन रूप पांच प्रकार के दम का प्रतिपादन करने वाले तीर्थ की उन्होंने प्रवृत्ति की थी, वे शील के सागर थे, अठारह हजार शील के भेद उनमें पूर्णता को प्राप्त हुए थे अथवा विवाह के पूर्व ही राजमिती का परित्याग कर जिन्होंने अपने जीवन में ब्रह्मचर्य का परम आदर्श प्राप्त किया था, और इन सब विशेषताओं के कारण वे अन्त में भवभ्रमण से छूट कर सदा के लिये मुक्त हो गये थे॥ १-२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थंभूतस्य, भगवतः पादयुगलं कीदृशमित्याह—

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरण विसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगल ममलं भवतो विकसत्कुशेशय दलारुणोदरम् ॥३॥

त्रिदशेन्द्रादि—त्रिदशा देवास्तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तेषां मौलयो मकुटानि तेषु मणिरत्नानि मणयः पद्मरागादयस्त एव रत्नानि वज्रादीनि वा स्तेषां किरणा स्तेषां विसराः प्रसरास्तैरुपचुम्बितं, किं तत् ? पादयुगलं, कथंभूतं अमलं न विद्यते मलं पापं यस्य, यद्दर्शने भव्यानां वा, कस्य सम्बन्धि तत् ? भवतः अरिष्ट नेमि तीर्थंकर देवस्य, पुनरपि कथंभूतमित्याह–विकसदित्यादि–विकसच्च तत्कुशेशयं च पद्मं तस्य दलं पत्रं तद्वदरुणं रक्तं उदरं पादतलं यस्य तद् विकसत्कुशेशयदलारुणोदरं ॥३॥

पुनरपि किं विशिष्टं पादयुगल मित्याह–

नखचन्द्ररश्मि कवचातिरुचिर शिखरांगुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ॥४॥

नखेत्यादि—नखा एव चन्द्रा स्तेषां रश्मयः तेषां कवचः परिवेषः तेनातिरुचिरं शिखरमग्रभागो यस्य तत्तथाविधं मङ्गलीनां स्थलमुन्नत प्रदेशो यस्य पादयुगलस्य तत् नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिर शिखरांगुलिस्थलं, तत्किं कुर्वन्ति ? प्रणमन्ति, के ते ? महर्षयः, कथंभूता ? मन्त्रमुखराः मन्त्रेण सप्ताक्षरेण सामान्यस्तुतिरूपेण वा मुखरा वाचालाः, पुनरपि कथंभूताः ? सुधियः शोभना धीर्येषां, अतएव स्वार्थनियतमनसः स्वार्थे मोक्षलक्षणे नियतं नियन्त्रितं मनो यैः ॥४॥

ऐसे भगवान् के चरण युगल कैसे थे ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (स्वार्थनियतमनसः) मोक्षरूप स्वार्थ में जिनके मन नियन्त्रित हैं (सुधियः) जो उत्तम बुद्धि से युक्त हैं और (मन्त्रमुखराः) जो 'णमो णेमिजिणाणं' इस सात अक्षर वाले मन्त्र से अथवा सामान्य स्तुति से वाचाल हैं ऐसे (महर्षयः) गणधरादि बड़े बड़े ऋषि (भवतः) आपके [तत्] उस (पादयुगलं) चरणयुगल को (प्रणमन्ति) प्रणाम करते हैं [यत्] जो कि (त्रिदशेन्द्र मौलि मणि रत्न किरण विसरोपचुम्बितम्) इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों और रत्नों की किरणों के समूह से चुम्बित हैं, (अमलं) निर्मल–उज्ज्वल हैं, (विकसत्कुशेशय दलारुणोदरं) जिनका तलभाग खिले हुए कमलदल के समान लालवर्ण का हैं, तथा (नखचन्द्र रश्मिकवचातिरुचिर शिखरांगुलिस्थलम्) जिनकी अंगुलियों का स्थान नख रूपी चन्द्रमा की किरणों के परिवेष से अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोहर अग्रभाग से सहित है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आत्महित के इच्छुक तथा अतिशय बुद्धिमान् महर्षि मन्त्र पाठ अथवा स्तोत्र पाठ करते हुए सदा आपके चरण युगल को नमस्कार करते रहते हैं। आपके उन चरणों में इन्द्र अपना मस्तक झुकाये हुए है जिससे उसके मुकुट सम्बन्धी पद्मराग आदि मणियों और हीरा आदि रत्नों की किरणों का समूह उनपर व्याप्त हो रहा है, आपका वह चरण युगल अत्यन्त निर्मल है, उसकी पगतली खिले हुए कमल दल के समान लाल है और नख रूपी चन्द्रमा की किरणों का परिमण्डल उसकी अंगुलियों के स्थान को अत्यन्त मनोहर वना रहा है।। ३-४ ।।

न केवलं त एव भगवतः पादयुगलं प्रणमन्ति किन्त्वन्येऽपीत्याह—

द्युतिमद्रथाङ्ग रविविम्बकिरण जटिलांशुमण्डलः।
नीलजलदजलराशिवपुःसह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ।।५।।

द्युतीत्यादि—द्युतिरस्यास्तीति द्युति मत्, तच्च तद्रथाङ्गं च चक्रं तदेव रविविम्बं रवि रिव विम्बमाकारो यस्य तस्य किरणास्तैर्जटिलं शबलितं मंशुमण्डलं देहदीप्ति संघातो यस्य, अंसमण्डल इति च पाठः अंसस्य स्कन्धस्य मण्डलं विस्तार स्तैर्जटिलं यस्य गरुडकेतोः स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूत इत्याह—नीलेत्यादि—नीलश्चासौ जलदश्च सजलमेघः स च जलराशिश्च समुद्रः ताविव वपुः शरीरं यस्य, नीलजलजदराशि--इत्यादिश्च क्वचित् पाठः नीलजलजानि नीलोत्पलानि तेषां दलराशिः पत्रसंघातस्तत्तुल्यं वपुर्यस्य, कोऽसावित्थंभूतः ? गरुडकेतुर्गरुडध्वजो वासुदेवः, किंविशिष्टः ? ईश्वरः पृथ्वीपतिः, किमेकाकीत्याह—सह बन्धुभिरिति ।।५।।

न केवलं गरुडकेतुः किन्तु—

हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्द युगलं प्रणेमतुः ।। ६ ।।

हलभृदित्यादि-- हलभृच्च बलभद्रोऽपि, तौ द्वौ प्रणेमतुः स्तुतवन्तौ, किं तत् ? चरणारविन्द युगलं चरणावेव अरविन्दे पद्मे तयोर्युगलं, कस्य ? ते तव, कथंभूतौ जनेश्वरौ जनस्य लोकस्य ईश्वरौ स्वामिनौ, पुनरपि कथंभूतौ ? स्वजन भक्तिमुदित हृदयौ स्वजने बन्धौ भक्तिरनुरागः तया मुदितं हृष्टं हृदयं ययोः, पुनरपि किंविशिष्टौ ? धर्मविनयरसिकौ धर्मार्थो विनयो धर्मविनय स्तत्र रसिकौ अनुरक्तौ , कथं प्रणेमतुः ? सुतरामत्यर्थेन ।।६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे नारायण और बलभद्र भी आपके चरणों में प्रणाम करते थे—यह कहते हैं-

अन्वयार्थ—हे भगवान ! (द्युतिमद्रथाङ्गरवि बिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) कान्तिमान् सुदर्शनचक्र रूपी सूर्य बिम्ब की किरणों से जिनकी कान्ति का मण्डल व्याप्त हो रहा है अथवा (जटि--लांसमण्डलः-पाठ में) कान्तिमान् सुदर्शन चक्ररूपी सूर्य बिम्ब की किरणों से जिनके कन्धे का प्रदेश व्याप्त हो रहा है (नील जलद जलराशि वपुः) नील मेघ और समुद्र के समान जिनका श्याम शरीर है अथवा (नील जलज दल राशि वपुः-पाठ में) नील कमल के पत्रों के समान जिनका श्याम शरीर है तथा (ईश्वरः) जो तीन खण्ड पृथिवी के स्वामी हैं ऐसे (गरुडकेतुः) श्रीकृष्ण, (च) और (हलभृत्) बलभद्र इस प्रकार (स्वजन भक्ति मुदित हृदयौ) आत्मबन्धु की भक्ति से जिन के चित्त प्रसन्न हो रहे थे, (जने-श्वरौ) जो लोक के स्वामी थे और (धर्म विनय रसिकौ) जो धर्मार्थ विनय के रसिक थे-ऐसे दोनों भाईयों ने (बन्धुभिः सह) अपने अन्य भाईयों के साथ (ते) आपके, (चरणारविन्द युगलं) चरणकमलों के युगल को (सुतरां) बार बार (प्रणेमतुः) प्रणाम किया था

भावार्थ—भगवान् अरिष्ट नेमि के पिता समुद्र विजय दश भाई थे। इनमें समुद्र विजय सब से बड़े थे और वसुदेव सब से छोटे थे। वसुदेव के कृष्ण और बलराम ये दो पुत्र थे इनमें श्री कृष्ण नारायण थे और बलराम बलभद्र थे, श्रीकृष्ण की ध्वजा में गरुड का चिह्न था, उनका शरीर नीलमेघ और समुद्र अथवा नीलोत्पल की कलिकाओं के समूह के समान श्यामल था, उन्हें सूर्य के मण्डल के समान देदीप्यमान सुदर्शन चक्र प्राप्त था उसकी उज्ज्वल किरणों से उनके शरीर का कान्ति मण्डल व्याप्त हो रहा था अथवा उस सुदर्शन चक्र की किरणों के समूह से उनका कन्धा देदीप्यमान हो रहा था, बलराम बलभद्र थे ये हल नामक शस्त्र के धारक थे, ये दोनों ही भाई समस्त जनता के स्वामी थे, तथा धर्म की विनय के अत्यन्त रसिक थे, भगवान् अरिष्टनेमि इनके बड़े दादा के पुत्र होने से भाई थे तीर्थंकर के रूप में अपने भाई की प्रतिष्ठा देख कृष्ण और बलराम के हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। ये दोनों ही भाई अपने अन्य अनेक भाईयों के साथ मिलकर भगवान् अरिष्ट नेमि के चरण कमल युगल को बार २ प्रणाम करते थे ।। ५-६ ।।

यत्र पर्वते गत्वा भगवतश्चरणारविन्द युगलं तौ प्रणेमतुः स कीदृश इत्याह—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः ।
मेघ पटल परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ७

ककुदमित्यादि—ककुदमिव ककुदं, कस्याः ? भूवः पृथिव्याः, यथा ककुदं वृषभोपरिस्कन्धप्रदेशस्थं सर्वतः तदवयवानामुपरिवर्ति शोभाकरि च तथा अर्जयन्ताचलः सकलभूम्यवयवानामित्यर्थः, पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह—खेचरेत्यादिखे चरन्तीति खचरा विद्याधरास्तेषां योषितो विद्याधर्मः ताभिरुषितानि सेवितानि च शिखराणि तैरलंकृतः शोभितः, पुनरपि कथंभूतो ? मेघपटलपरिवीततटः मेघानां पटलानि तैः परि समन्ताद् वीतानि व्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रानि तटानि सानूनि यस्य, पुनरपि कथंभूत इत्याह–तवेत्यादि–तव अरिष्टनेमेः लक्षणानि चिह्नानि लिखितानि उत्कीर्णानि, केन ? वज्रिणा इन्द्रेण तानि लक्षणानि ।। ७ ।।

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ८

वहतीत्यादि–वहति धरति इति हेतोः तीर्थं पुण्यस्थानं अतएव ऋषिभिश्च ऋषिभिरपि सततं सर्वकालं अभिगम्यते समाश्रीयते सेव्यते, कदा ? अद्य च इदानीमपि, कथंभूतैः प्रीतिविततहृदयैः प्रीत्या तुष्टया विततानि विस्तीर्णानि उल्लासितानि हृदयानि येषां तैः, कथं ? परितः समन्तात्, अयमेतद्विशेषणविशिष्टोऽचलः पर्वतः कथंभूतो लोके ? विश्रुतः प्रख्यातः, कथं ? ऊर्जयन्त इत्येवं, भृशमत्यर्थम् ।। ८ ।।

जिस पर्वत पर नारायण और बलभद्र ने प्रणाम किया था उस ऊर्जयन्त गिरि का वर्णन करते हैं--

अन्वयार्थ–(भुवः ककुद्म्) जो पृथिवी का ककुद है–बैल के कन्धे के समान ऊंचा तथा शोभा उत्पन्न करने वाला है, (खचरयोषितशिखरैः) जो विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों के द्वारा (अलंकृतः) सुशोभित है, (मेघ पटल परिवीततटः) जिसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं (वज्रिणा लिखितानि तव लक्षणानि वहति–इति तीर्थं) जो इन्द्र के द्वारा लिखे हुए [हे नेमिजिन !] आपके चिन्हों को धारण करता है इसलिये तीर्थ स्थान है, (सततं अद्य च) हमेशा तथा आज भी (प्रीतिवितत हृदयैः) प्रीति से विस्तृतचित्तवाले (ऋषभिश्च) ऋषियों के द्वारा जो (परितः)सब ओर से (भृशं) अत्यधिक (अभिगम्यते) सेवित है (इति) ऐसा वह विश्रुतः) अतिशय प्रसिद्ध ऊर्जयन्तः अचलः) ऊर्जयन्त नाम का पर्वत है [जिस पर जाकर कृष्ण और बलराम ने आपके चरण (कमल युगल को प्रणाम किया था] ।

भावार्थ–सौराष्ट्र देश का ऊर्जयन्त पर्वत जो शास्त्रों में रैवतक गिरि के नाम से प्रसिद्ध है तथा चालू भाषा में जिसे गिरनार कहते है, भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण से अनेकों वार पवित्र हुआ है, वह समान धरातल से बहुत ही ऊंचा है और ऐसा जान पड़ता है मानों पृथिवी का कांधोल हो, उसकी ऊंची ऊंची शिखरों पर विद्याधरों की स्त्रियां क्रीडा किया करती हैं, उसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं, इन्द्र ने उस पर भगवान् अरिष्ट नेमि के चिन्हों को अथवा यश प्रशस्तियों को वज्र से उत्कीर्ण किया था इसलिये वह लोक में तीर्थ समझा जाता है, बडे बड़े ऋषि सदा से उस पर्वत की सेवा करते आ रहे हैं और आज भी प्रीति से विस्तृत चित्त होकर आत्म कल्याण के इच्छुक लोग सब ओर से आकर उस पर्वत की सेवा करते हैं उसी पर्वत पर जब भगवान् अरिष्टनेमि का समवसरण आया तब द्वारिका पति श्री कृष्ण और बलराम अपने अन्य अनेक भाईयों के साथ वहां पहुँचे, अपने चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ के समवसरण सम्बन्धी वैभव को देखकर दोनों का चित्त प्रसन्नता से भर गया और अपने कुल को धन्य मानते हुए भगवान् के चरण कमलों में वार वार प्रणाम करने लगे ।७-८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्राह मीमांसकः यदुक्तं ज्ञान विपुलाकिरणैरिति, तत्र भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवदतः कथं सर्वज्ञता स्यादित्या शङ्क्याह—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ॥९॥

बहिरन्तरपीत्यादि—बहिः करणं चक्षुरादि, अन्तरपि करणं मनोलक्षणं, तत्प्रत्येक मुभयथा च, अविघाति सर्वज्ञतास्वरूपस्य विघातकं न भवति, उपकारकं तर्हिस्यादित्यत्राह-नेत्यादि—नार्थकृत् न स्वकार्यकारि, यत एव मतः हे नाथ ! त्वं विवेदिथ ज्ञातवान्, किं तत् ? इदं जगत्, कि क्रमेण ? युगपदेकहेलया, किं ? नियतमखिलं च निरवशेषमेव, किं नियत कालं ? सदां सर्वदाकालं, किमिव ? तलामलकवत् तले करतले आमलकः स्फटिकमणिः, स इव तद्वत् ॥ ९ ॥

यत एवं विवेदिथ त्वम्—

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुण मद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१०॥

अतएवेत्यादि—अतएवास्मादेव कारणात्, ते तव, कथंभूतस्य ? बुधनुतस्य बुधैर्गणधरदेवादिभिर्नुतःस्तुतस्तस्य, चरित मनुष्ठानं तस्य गुणो निर्विघ्नतः स्वसाध्यप्रसाधकत्वं, किंविशिष्टं ? अद्भुतोदयं अद्भुत साश्चर्य उदयः समवशरण केवल ज्ञानादिलक्षणा लक्ष्मीर्यस्य तत्, पुनरपि कि-विशिष्टं ? न्याय विहितं न्यायेय नीत्या आगम प्रतिपादितोपपत्त्या विहितं कृतमनुष्ठितं, इत्थंभूतं त्वद्गुणमवधार्य संचिन्त्य त्वयि अरिष्टनेमि तीर्थंकरदेवे, कथंभूते ? जिने अशेषकर्मोन्मूलके, स्थिताः प्राञ्जलीभूय व्यवस्थिताः ते के ? वयं स्तोतारः, कथंभूताः ? सुप्रसन्नमनसः सुष्ठु प्रसन्नं विशुद्धं भक्त्यानुग्रहीतं मनो येषाम् ॥१०॥

आगे भगवान् नेमि जिनेन्द्र के सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् ! (त्वं) आप (इदं अखिलं) इस समस्त संसार को (युगपत् च सदा) एक साथ और सर्वदा (तला मलकवत्) हस्ततल पर रखे हुए स्फटिक के समान जानते हैं तथा आपके इस जानने में (बहिः) बाह्य=(और) (अन्त रपि) अभ्यन्तर (करणं) इन्द्रिया पृथक् पृथक् (च उभयथा) और दोनों प्रकार से (अविघाति) वाधक नहीं हैं एवं (अर्थकृत् न) उपकारक भी नहीं हैं (अतएव) इसीलिये (बुधनुतस्य) विद्वानों के द्वारा स्तुत (ते) आपके (अद्भुतोदयम्) आश्चर्य कारक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्युदय से युक्त तथा (न्याय विहितं) न्याय सिद्ध -आगम ज्ञान से सिद्ध (चरितगुणं) स्वकार्य की प्रसाधकता का (अवधार्य) निश्चय कर (वयं) हम (सुप्रसन्नमनसः) अत्यन्त प्रसन्न चित्त होते हुए (त्वयि-जिने) आप जिनेन्द्र में (स्थिताः) स्थित हुए हैं-आपने कार्य का साधक समझ आपकी शरण में आये हैं।

भावार्थ—मीमांसकों का कहना है कि अस्मदादि के समान भगवान् का ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य ही है अतः ज्ञान रूप विपुल किरणों के द्वारा वे समस्त संसार को प्रतिबुद्ध करते हैं-जानते है यह कहना संगत नहीं है। उनके इस कथन का उत्तर देते हुए कहा गया है कि हे भगवान् ! आप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों इन्द्रियों की सहायता के बिना ही इस समस्त संसार को हस्तामलकवत् सदा एक साथ स्पष्ट जानते हैं। इन्द्रियां आपके ज्ञान में न बाधा करती हैं और न उपकार ही। चूंकि आपका ज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष होकर आत्म-सापेक्ष ही है इसलिये वह ज्ञान गुण के चरमविकास स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक अलोक को जानता है। आपकी इस विशेषता से आकृष्ट होकर समस्त विद्वान् आपकी स्तुति करते हैं। आपके चरित का माहात्म्य समवसरणादि रूप आश्चर्य कारक अभ्युदय से सहित है तथा आगम की प्रतिपत्ति से सिद्ध है यह सत निश्चय कर हम बडी प्रसन्नता से आपकी शरण में आये है आपके भक्त बने हैं॥ ९-१०॥

इति नेमिजिनस्तवनम्

श्रीपार्श्वजिनस्तवनम्

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्ण भीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥१॥

तमालनीलैरित्यादि— वंशस्थच्छन्दः। न चचाल नं चलितवान्, कस्मात् ? योगतः परमशुक्लध्यानात्, किंविशिष्टः ? उपद्रुतः पीडितः कैः ? बलाहकैर्मेघैः, कथंभूतैः ? तमालनीलैः तमाला वृक्षविशेषाः तद्वत् नीलैः नीलवर्णैः, पुनरपि कथंभूतैः ? सधनुस्तडिद्गुणैः, गुणा ज्याः तडित एव गुणाः, धनुषामिन्द्रचापानां तडिद्गुणा धनुस्तडिद्गुणाः तैः सह वर्तन्त इति सधनुस्तडिद्गुणास्तैः, पुनरपि किंविशिष्टैः ? वैरिवशैः कमठ वशवर्तिभिः, कथंभूतो यः पार्श्व नाथ भगवान् ? महामना महत् परीषहेभ्योऽक्षुभितं मनो यस्य यस्य॥१॥

उपसर्ग के समय भगवान् की निश्चलता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ--(तमाल नीलैः)तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण, (सधनूस्तडिद्गुणैः) इन्द्र धनुषों की विजली रूप डोरियों से सहित, (प्रकीर्ण भीमाशनि वायुवृष्टिभिः) भयंकर वज्र आंधी और वर्षा को बिखेरने वाले ऐसे (वैरिवशैः) शत्रु के वशीभूत (बलाहकैः) मेघों के द्वारा(उपद्रुतः) उपद्रुत होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर भी (महामना:) उत्कृष्ट धैर्य के धारक (य:) जो पार्श्वनाथ भगवान् (योगत:) शुक्लध्यान रूप योग से (न चचाल) विचलित नहीं हुए थे।

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ मुनि अवस्था में अहिक्षेत्र के तपोवन में ध्यानारूढ थे। पूर्वभव का वैरी कमठ जो कि अब कालसंवर नामका ज्योतिष्क देव हुआ था वहां से निकला, भगवान् पार्श्वनाथ को देखते ही उसे पूर्वभव का वैर स्मृत हो गया। वैर के वशीभूत हो उसने उपसर्ग का निश्चय कर विक्रिया से काली घनघटा के द्वारा दिग्दिगन्त को आच्छादित कर दिया, उस घनघटा में इन्द्र धनुष दिखने लगे और बिजलियां कौंदने लगीं, वज्रपात हुए, जोरदार आंधी चली और भयंकर वर्षा हुई परन्तु इस दैविक उपद्रव के होते हुए भी उनका मन रञ्च मात्र भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुआ वे अपने शुक्लध्यान रूपी योग से जरा भी विचलित नहीं हुए। इसी घटना का चित्रण इस श्लोक में किया गया है ॥१॥

भगवतः उपसर्गोपनिपातं ज्ञात्वा धरणेन्द्रः किं कृतवानित्याह—

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा ॥२॥

बृहत्फणेत्यादि—जुगूह वेष्टितवान्, कोऽसौ ? नागः, किंनामा ? धरणेन्द्रनामा, केनेत्याह—बृहदित्यादि—बृहत्यश्च ताः फणाश्च तासां मण्डलं चक्रं संघातश्च तस्य मण्डपस्तदेव वा मण्डपस्तेन, कथंभूतेन ? स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा स्फुरन्ती चासौ तडिच्च स्फुरत्तडित् तस्या इव पिङ्गा पीता रुक् दीप्तिर्वर्णो यस्य तेन, तथंभूतं यं पार्श्वनाथं ? उपसर्गिणमुपसर्गवन्तं, क इव कं जुगूहेत्याह—धराधरमित्यादि—धराधरं पर्वतं यथा जुगूह, कोऽसौ ? विरागसंध्या तडिदम्बुदः तडितोपलक्षितोऽम्बुदस्तडिदम्बुदः, विगतो रागो यस्या साचासौ संध्या च कृष्णसंध्या तस्यां तडिदम्बुदः, विविधो वा रागो नील पीतादिवर्णो यस्याः सा चासौ संध्या च तया तुल्या या तडित् तया उपलक्षितोऽम्बुदः, विराग संध्यायां वा तडिता उपलक्षितोऽम्बुदः पिङ्गः ॥२॥

आगे धरणेन्द्र के द्वारा उपसर्ग निवारण का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(उपसर्गिणं) उपसर्ग से युक्त (यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (धरणो नागः) धरणेन्द्र नामक नागकुमार देव ने (स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा) चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त (बृहत्फणामण्डलमण्डपेन) बहुत भारी फणामण्डल रूपी मण्डप के द्वारा [तथा] उस तरह (जुगूह) वेष्टित कर लिया था (यथा) जिस तरह कि (१ विराग संध्या तडिदम्बुदः) काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ (धराधरं) पर्वत को वेष्टित कर लेता है।

१ 'विराग संध्या तडिदुम्बुदः' का एक अर्थ यह भी है—विविध रङ्गों वाली संध्या के समान बिजली से युक्त मेघ, अथवा विविध रङ्गों वाली संध्या के समय बिजली से सहित मेघ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ ने मरणोन्मुख नागनागिनी के लिये पञ्च नमस्कार मन्त्र दिया था उसके प्रभाव से नाग धरणेन्द्र हुआ था और नागिनी पद्मावती देवी। जब कमठ के जीव कालसंवर ने भगवान् पार्श्वनाथ पर प्रथम श्लोक में प्रतिपादित उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र ने आकर विक्रिया से एक नाग का रूप बनाया और बहुत भारी फणामण्डल के द्वारा उन पर छाया करली तथा पद्मावती देवी ने उन्हें उठा कर शिर पर विराजमान कर लिया। अपने विशाल फणा मण्डल से भगवान् को वेष्टिन करता हुआ धरणेन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानों कालीसंध्या के समय बिजलो से युक्त मेघ किसी पर्वत को वेष्टिन कर रहा हो ॥२॥

उपसर्गनिवारणानन्तरं भगवान् किं कृतवानित्याह—

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥३॥

स्वयोगेत्यादि—अवापत् प्राप्तवान्, किं तत् ? आर्हन्त्यम्, किं कृत्वा ? निशात्य विनिपात्य विनाश्य, कं ? दुर्जयमोहविद्विषम् मोह एव विद्विट् दुर्जयश्चासौ मोहविद्विट् तं, कयेत्याह--स्वयोगेत्यादि--स्वस्य योगः परमशुक्लध्यानं स एव निस्त्रिंशः खड्गः तस्य निशाता तीक्ष्णीकृता या धारा योगाभ्यासपर्यन्तरूपा तया, कथंभुतमार्हन्त्यं ? अचिन्त्यं १ चिन्ताया अप्यगोचरं, अद्भुतं साश्चर्यगुणोपेतं, पुनरपि किंविशिष्टं ? पदं स्थानं, कथंभूतं पदं ? त्रिलोक पूजातिशयास्पदं त्रिलोकानां पूजा तस्या अतिशयः परम प्रकर्षः तस्यास्पदमाश्रयः ।३।

उपसर्ग को जीत कर भगवान् अरहन्त पद को प्राप्त हुए यह कहते है—

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया) अपने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्षण धारा के द्वारा (दुर्जयमोहविद्विषम्) मोह रूपी दुर्जय शत्रु को (निशात्य) नष्ट कर (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय, (अद्भुतं) आश्चर्य कारक गुणों से युक्त, (त्रिलोकपूजातिशयस्पदं) त्रिलोक की पूजा के अतिशय के स्थान (आर्हन्त्यं पदम्) आर्हन्त्य पद को (आवापत्) प्राप्त किया था।

भावार्थ—उधर कालसंवर, भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग कर रहा था इधर वे शुक्लध्यान में निमग्न हो क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो रहे थे। कालसंवर का उपसर्ग भगवान् को अपने पथ से विचालत नहीं कर सका उन्होंने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारा से मोहरूपी दुर्जेय शत्रु को नष्ट कर अन्तर्मुहूर्त बाद वह आर्हन्त्य पद प्राप्त कर लिया जिसका छद्मस्थ–अल्पज्ञ प्राणी विचार ही नहीं कर सकते थे, जो समवसरणादि विभूति के कारण आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था तथा त्रिलोकवर्ती–शतइन्द्र जिसकी पूजा करते थे ॥३॥

---

१ ख प्रतौ इत आरम्भ पाठो नास्त्येव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थंभूतं च पार्श्वनाथतीर्थंकरदेवं दृष्ट्वा वनवासिनस्तापसाः स्वप्रयासे विफलतया भवन्मार्गेण तथा भवितुमिच्छन्तीति दर्शयन्नाह—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत कल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथाबुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमबन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥

यमित्यादि—यं पार्श्वनाथं, वीक्ष्य विलोक्य, कथंभूतं ? ईश्वरं सकललोकप्रभुं, पुनरपि कथंभूतं ? विधूतकल्मषं विधूतं विनाशितं कल्मषं घातिकर्मचतुष्टयरूपं पापं येनासौ तथोक्तस्तं, के ते वीक्ष्य ? तपोधनाः तापसाः, किंविशिष्टाः ? वनौकसो वनेऽटव्यामोको गृहं येषां ते वनौकसो वनवासिनः तेऽपि परदर्शनानुयायिनः न केवलं भवद्दर्शनानुयायिनः शरणंप्रपेदिरे, किं कर्तु मिच्छवः ? तथा बुभूषवः तथा भगवत्प्रकारेण बुभूषवो भवितुमिच्छवः, कथंभूताः सन्तः ? स्वश्रम वन्ध्यबुद्धयः स्वस्य श्रमः पञ्चाग्निसाधनादिप्रयासस्तस्मिन् वन्ध्याविफला बुद्धिर्येषां ते, इत्थंभूताः सन्तः किं कृतवन्तः ? शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे शमस्य सकलसंसारोपरमस्य निखिलरागाद्युपशमस्य वा उपदेशो मोक्षमार्गस्तं, यदि वा शमस्य उपदेशो यस्मादसौ शमोपदेशो भगवान् तं शरणं प्रपेदिरे प्रतिपन्नाः ॥४॥

भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से वशीभूत होकर अन्य तापस भी उनकी शरण आये यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ----(यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (ईश्वरं) समस्त लोक के ईश्वर तथा (विधूतकल्मषं) घातिचतुष्क रूप पाप से रहित (वीक्ष्य) देख कर (तथा बुभूषवः उन्ही के समान होने के इच्छुक (वनवासिनः) वनवासी (ते तपोधनाः अपि) वे तपस्वी भी (स्वश्रमबन्ध्यबुद्धयः)अपनेप्रयासमें निष्फल बुद्धि होते हुए (शमोपदेशं) मोक्ष मार्ग अथवा शान्ति का उपदेश देने वाले भगवान् पार्श्वनाथ की (शरणं प्रपेदिरे) शरण को प्राप्त हुए थे।

भावार्थ—भगवान् अरिष्ट नेमि के मोक्ष चले जाने के बाद चौरासी हजार का लम्बा अन्तराल बीत चुका था इसबीच में अन्य मतावलम्बियों का प्रचार भी भारत वर्ष में खूब हो गया था। अपने अपने सिद्धान्तानुसार अन्य लोग तापस के वेष में आत्मसाधना करने में निमग्न हो रहे थे, कोई पन्चाग्नि तप तपता था, कोई धूम्रपान करता था, कोई एक हाथ ऊपर उठाकर तप करता था और कोई रात दिन खड़ा रह कर ही तपश्चरण करता था। इस प्रकार की तपश्चर्या करते हुए उन्हें लम्बा समय बीत गया पर कुछ फल की प्राप्ति नहीं हुई। उधर भगवान् पार्श्वनाथ केवल चार मास की तपश्चर्या के द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट कर तीन लोक के ईश्वर बन गये, थे, उनके समवसरण की रचना हो चुकी थी, तथा समस्त देव दानव उनके प्रभाव से नतमस्तक हो ग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये। भगवान् पार्श्वनाथ की तपस्या के इस प्रत्यक्ष सिद्ध फल को देख कर वनवासी अन्य तपस्वी अपने श्रम को निष्फल समझने लगे, उनके मन में भी यह इच्छा उत्पन्न हुई कि हम भी भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा गृहीत मार्ग पर चल कर उन जैसा बनें। इसी इच्छा से प्रेरित हो कर अन्य अनेक साधु उनकी शरण को प्राप्त हुए—अपने मिथ्या तप को छोड़ कर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी हुए ।।४।।

य एवंविधो भगवान् स किं क्रियते इत्याह—

स सत्य विद्या तपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीन मिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ।।५।।

स इत्यादि--स प्रागुक्त विशेषण विशिष्टः पार्श्वजिनः प्रणम्यते, केन ? मया समन्त भद्र स्वामिना, किं कदाचित् ?- सदा सर्वकालं, कथंभूतः स इत्याह—समग्रधीः समग्रा संपूर्णा केवलज्ञान लक्षण धीर्यस्य, पुनरपि किं विशिष्टः उग्रकुलाम्बरांशुमान् उग्रं च तत्कुलं च तदेव अम्बरमाकाशं तस्य अंशुमान् चन्द्रस्तदुद्योतकत्वात्, पुनरपि किं विशिष्ट इत्याह—विलीनेत्यादिमिथ्या चासौ पन्थाश्च मिथ्यादर्शनादि कुमार्गः तन्निबन्धना दृष्टयो मतानि तैर्जनिता विभ्रमाः सर्वथानित्य क्षणिका द्वैतवादि समारोपाः विलीना विनष्टास्ते यस्माद्भव्यानां स तथोक्तः ।।५।।

अन्वयार्थ—(सत्यविद्या तपसां प्रणायकः) जो सत्य विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता थे, (समग्रधीः) जो पूर्ण केवल ज्ञान के धारक थे (उग्रकुलाम्बरांशुमान्) जो उग्र वंश रूपी कुल के चन्द्रमा थे, और (विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः) जिन्होंने मिथ्या मार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों से उत्पन्न विभ्रमों को नष्ट कर दिया था (सः) वे (पार्श्वजिनः) पार्श्वजिनेन्द्र (मया) मुझ समन्तभद्र के द्वारा (सदा) हमेशा (प्रणम्यते) प्रणत किये जाते हैं—मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।।५।।

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ उग्रवंश में उत्पन्न हुए थे उन्होंने अपने आप के द्वारा उस उग्रवंश को उस तरह प्रकाशित किया था जिस तरह कि चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है। चूंकि भगवान् पार्श्व नाथ पूर्ण ज्ञानी थे-सर्वज्ञ थे, इसलिये उन्होंने अपने उपदेशों के द्वारा लोगों केमिथ्यामार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों के विभ्रमों को दूर कर उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाया था और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्तप--सम्यक्चारित्र की प्रवृत्ति चलाई थी इस तरह वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग के प्रणेता थे। मैं भी मोक्ष का इच्छुक हूँ। इसीलिये मोक्ष मार्ग के प्रकृष्ट नायक भगवान् पार्श्व नाथ को मैं प्रणाम करता हूँ।

इति पार्श्व जिनस्तवनम्

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीवीरजिनस्तवनम्

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर ! त्वं गुणसमुच्छ्रया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ॥१॥

कीर्त्येत्यादि---स्कन्धकछन्दः । १ हे वीर ! त्वं भासि शोभसे, क्व ? भुवि पृथिव्यां, कया ? कीर्त्या ख्यात्या, कथंभूतया तया कीर्त्या ? गुणसमुच्छ्रया गुणेभ्य आत्म शरीरगतेभ्यः समुच्छ्रा प्रादुर्भावो यस्याः सा तथोक्ता तया, अतएव भासितया शोभितया यदि वा भासितया उज्ज्वलया निर्मलया, अत्रदृष्टान्तमाह–भासेत्यादि, सोम इव यथा सोमश्चन्द्रो व्योम्नि गगने भाति तथा त्वं कीर्त्या भासीति सम्बन्धः, कया सोमो भाति ? भासा दीप्त्या, किंविशिष्टया ? उडुसभासितया उडूनां नक्षत्राणां सभा उडुसभं तत्रासितया स्थितया, पुनरपि किंविशिष्टया ? कुन्दशोभासितया कुन्दानां शोभा कुन्दशोभा तद्वत् आसमन्तात् सितया धवलया ॥१॥

अन्वयार्थ—(हे वीर !) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (त्वं) आप (भुवि) पृथिवी पर (गुणसमुच्छ्रया) आत्मा और शरीर सम्बन्धी गुणों से उत्पन्न (भासितया) सुशोभित अथवा उज्ज्वल(तया) उस (कीर्त्या) ख्याति से (उडुसभासितया) नक्षत्रों की सभा में आसित–स्थित, एवं (कुन्दशोभासितया) कुन्दकुसुम की शोभा के समान सफेद (भासा) कान्ति से (व्योम्नि) आकाश में (सोम इव) चन्द्रमा के समान (भासि) सुशोभित होते हैं ।

भावार्थ—भगवान् वर्धमान 'विशिष्टाम् ईं लक्ष्मीं राति ददातीति वीर स्तत्सम्बुद्धौ' विशिष्ट लक्ष्मी–आत्मीय सम्पत्ति को देने वाले थे इसलिये वीर कहलाते हैं । उनकी आत्मा सम्यग्दर्शनादि गुणों से तथा शरीर सातिशयरूपता आदि गुणों से युक्त था इन सब गुणों के कारण उनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही थी । कवि लोग कीर्ति का वर्णन सफेद करते हैं । यहां उपमालंकार में उनकी कीर्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आकाश में नक्षत्र समूह में स्थित–व्याप्त तथा कुन्दपुष्प की शोभा के समान सफेद कान्ति से चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार हे वीर जिन ! गुणों से उत्पन्न एवं अतिशय सुशोभित अथवा उज्ज्वल कीर्ति से आप पृथिवी पर सुशोभित होते हैं ॥१॥

१–इसका दूसरा नाम आर्यागीति छन्द है । जिसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में १२---२०-----१२---२० मात्राएं हों उसे आर्यागीति कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के ते भवदीयाः गुणाः येभ्यः सा समुत्थितेत्याह--

तव जिन ! शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥२॥

तवेत्यादि—हे जिन ! जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कोऽसौ ! शासनविभवः, शास्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते हेयोपादेय तत्वानि येन तच्छासनं प्रवचनं तस्य विभवो माहात्म्यं यथावस्थिता शेषार्थ प्रतिपादनलक्षणः, कदा ! कलावपि कलिकालेऽपि इदानीमपीत्यर्थः, कथंभूतो ? गुणानुशासनविभवः गुणेष्वनुशासनं शिक्षा येषां भव्यानां ते गुणानुशासनाः तेषां विगतो विनष्टो भवः संसारो यस्मात् स गुणानुशासनविभवः, न केवलं जयति किन्तु स्तुवन्ति एनं शासनविभवं, के ते ! दोषक शासनविभवः दोषा एव कशाः चर्मयष्टिकाः पीडाकरत्वात् तेषा-मसनं क्षेपणं निराकरणं तस्य विभवः प्रभवः समर्था गणधरदेवादयः, कथंभूताः प्रभाकृ-शासनविभवः आसते लोका यत्र तदासनं त्रिभुवनं तस्य लोकप्रसिद्धया विभवो हरिहरादयः, प्रभया ज्ञानादितेजसा कृशास्तनूकृता आसन विभवो यैः, यदि वा प्रभया आकृशान्यासनानि सिंहासनानि येषां ते प्रभाकृशासनाः वर्द्धमान स्वामिनोऽन्ये केवलिनः इन्द्रादयो वा, ते च ते विभवश्च स्वामिनश्च ॥२॥

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे वीर जिनेन्द्र ! (गुणानुशासनविभवः) भव्यजीवों के भव को नष्ट करने वाला (तव) आपके (शासनविभवः) प्रवचन का यथावस्थित समस्त पदर्थों के प्रतिपादन रूप साम-र्थ्य(कलावपि) कलिकाल में भी (जयति) जयवन्त है-सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है (च) और (प्रभाकृ-शासनविभवः) प्रभा-ज्ञानादितेज से आसनविभुओं-लोक के तथाकथित हरि हरादि स्वामिओं को कृश-महत्वहीन करने वाले (दोषकशासनविभवः) दोष रूप चाबुकों के निराकरण करने में समर्थ गणधरादि देव (एनं) आपके इस शासन विभव की--प्रवचन सामर्थ्य की (स्तुविन्त) स्तुति करते हैं ॥२॥

भावार्थ—आपके शासन का विभव पूर्वकाल में तो जयवन्त था ही किन्तु इस कलि काल में भी जबकि वक्रपरिणामी जीवों की ही बहुलता है जयवन्त हो रहा है ओर जयवन्त होने का कारण यह है कि वह भव्यजीवों के भवभ्रमण को नष्ट करने वाला है । इतना ही नहीं आपके इस शासन की वे गण-धरादि देव स्तुति भी करते हैं-निरन्तर प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं होते जोकि अज्ञान अथवा रागादि दोष रूपी चाबुकों का निराकरण करने में समर्थ हैं और अपनी प्रभा से जिन्होंने लोक त्रिभुओं-हरिहरादि को कृश-महत्व हीन बना दिया है ॥२॥

तेकथं शासनविभवं स्तुवन्तीत्याह--

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनवद्यः स्याद्वाद-स्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितय विरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥३॥

अनवद्य इति– न विद्यते अवधं दोषोऽस्ये त्यनवद्यो निर्दोषः, कोऽसौं ? स्याद्वादोऽनेकान्त्र वादः, कुतो ? दृष्टेष्टाविरोधतः दृष्टं प्रत्यक्षादि इष्टमागमस्ताभ्यामविरोधतः संवादात्, कथंभूतः सोऽनेकान्तरूपः स्याद्वादः ? स्याद्वादः उद्यते प्रतिपाद्यते येनासौ वादः शब्दः स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्या नेकान्तवादस्यासौ स्याद्वादः, स्यादस्तीतिरूपः एकान्तवादः कुतोऽनवद्यो न भवतीत्याह--इतर इति--इतर एकान्तः, स्याद् भवेन्न वादो न प्रमाणभूतागमः, हे मुनीश्वर ? गणधर देवादिमुनिस्वामिन् ?, कुतः स तथाभूतो न भवति ? द्वितयविरोधात्, दृष्टेष्टविरोधात्, तद्विरोधोऽप्यस्य कुतः ? अस्याद्वादो यतः स्यादस्तीत्यादिरूपो वादः स्याद्वादः स न विद्यते यत्र ॥३॥

अन्वयार्थ--- (हे मुनीश्वर) हे मुनिनाथ ! (स्याद्वादः 'स्यात्' इस कथचित् अर्थ के वाचक शब्द से सहित (तव) आपका (स्याद्वादः) स्यादस्तीत्यादि अनेकान्त रूप कथन (दृष्टेष्टा-विरोधतः) प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध न होने कारण (अनवद्यः निर्दोष है। इसके विपरीत अस्याद्वादः) 'स्यात्' इस शब्द से रहित (इतरः) अन्य जो (वादः) एकान्त रूप कथन है (सः) वह द्वितय विरोधात्) दृष्ट और इष्ट-प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष (न) नहीं है।

भावार्थ---- प्रमाण के दो भेद हैं— १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। इनमें प्रत्यक्ष को दृष्ट कहते हैं और अनुमान आगम आदि को इष्ट कहते हैं। हे गणधरादि मुनियों के स्वामी वीर जिनेन्द्र ! आपने जों स्याद्वाद-अनेकान्त रूप उपदेश दिया है, वह 'स्यात्' इस अव्यय से सहित है तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का विरोध न होने से निर्दोष है-सब को मान्य है। इसके विपरीत 'स्यात्' इस अव्यय से रहित जो अन्य सुगत-कपिल-ईश्वर आदि का उपदेश है वह प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण निर्दोष नहीं है-सब को मान्य नहीं है ॥३॥

अपरमपि भगवतो गुणं दर्शयन्नाह–

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिक सत्वाशय प्रणाममहितः।
लोकत्रय परमहितोऽ नावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥४॥

त्वमसीत्यादि–त्वं वर्द्धमानस्वामी, असि भवसि, किंविशिष्टः ? सुरासुरमहितः सुरैरसुरैश्च महितः पूजितः, पूनरपि किंविशिष्टः ? ग्रन्थिक सत्वाशयप्रणाममहितः ग्रन्थो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्वादिर्विद्यते येषां ते ग्रन्थिका मिथ्यादृष्टयः ते च ते सत्वाश्च प्राणिनः तेषामाशयोऽभक्तं चितं तेन प्रणामस्तेनामहितोऽपुजितः, यदिवा ग्रन्थिकसत्वोनामिवाशयो रागादिकलुषितं चित्तं येषां हरिहरादीनां ते ग्रन्थिकसत्वाशयाः तेषु प्रणामः 'कंकालमालाकुलितांरुदेह—' इत्यादिकस्तस्यास्ततः त्वमसि सुरासुरमहितः, पुनरपि कथंभूतः ? लोकत्रयपरमहितः परमश्चासौ हितश्च परमहितो लोकत्रयस्य परमहितो लोकत्रयपरमहितः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः अनावरणं च तज्ज्योतिश्च केवलज्ञानं तेन उज्ज्वलत्प्रकाशमानं तच्च तद्धाम मुक्तिस्थानं तत्र हितो गतः ॥४॥

अन्वयार्थ----हे भगवान् ! (त्वम्) आप (सुरासुरमहितः) सुरों तथा असुरों से पूजित हैं, किन्तु (ग्रन्थिक सत्वाशय प्रमाणामहितः) मिथ्यादृष्टि प्राणियों के अभक्त हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं है, आप (लोकत्रय परमहितः) तीनों लोकों के परम हितकारी हैं, और (अनावरण ज्योतिरूज्ज्वलद्धाम हितः) और केवल ज्ञान से प्रकाशमानं मुक्ति रूप स्थान को प्राप्त है ।

भावार्थ---- हेभगवान् ! यद्यपि समस्त सुर और असुर आपकी पूजा करते हैं तथापि मिथ्या दृष्टि जीवों का अभक्त हृदय आपकी पूजा नहीं करता, आप उनके प्रणाम से रहित हैं। आप त्रिलोकवर्ती जीवों के परम हितैषो हैं तथा केवल ज्ञान रूप निरावरण ज्योति से प्रकाशमाम मोक्ष को प्राप्त हैं ॥४॥

पुनरपि किंविशिष्टस्त्वमित्याह—

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचि तं जयसि च मृगलान्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥५॥

सभ्यानामित्यादि—दधासि धारयसि, किं तद् ? गुणभूषणं गुणानां भूषणमलंकारः, तत्कथंभूतं ? अभिरूचितमभीष्टं, केषां ? सभ्यानां समवसरणस्थित भव्यानां, पुनरपि कथंभूतं ? श्रिया चारुचितम् श्रिया विभूत्या चारु शोभनं यथाभवत्येवं चितमुपचितं पुष्टं, न केवलं दधासि जयसि च, कं ? मृगलान्छनं चन्द्रं. कया ? स्वकान्त्या स्व शरीरदीप्त्या, किंविशिष्टं ? मग्नं निमग्नं, क्व ? रुचि दीप्तौ, किंविशिष्टायां ? स्वस्यामात्मीयायां, तं मृगलान्छनं कथंभूतं ? १रुचितं दीप्तं सकलप्राणिनामभीष्टं वा ॥५॥

१रुचिरं ख.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवान् आप (सभ्यानां) समवसरण सभा में स्थित भव्यजीवों के (अभिरुचितं) रुचिकर, तथा (श्रिया) अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से (चारु चितं) सुन्दरता पूर्वक व्याप्त (गुणभूषणं) गुणों के भूषण को अथवा गुणरूप आभूषण को दधासि) धारण करते हैं, (च) और (स्वकान्त्या) अपनी कान्ति के द्वारा (स्वस्यां रुचि) स्वकीय कान्ति में (मग्नं) निमग्न, (रुचितं) सुन्दर (तं मृगलाञ्छनं) उस चन्द्रमा को (जयसि) जीतते हैं ॥

भावार्थ—हे वीर जिनेन्द्र ! आप सर्वज्ञ वीतरागतादि गुणों के उस आभूषण को धारण करते हैं जो समवसरण में स्थित भव्यजनों को अत्यन्त रुचि करहै, और अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से सुन्दरता पूर्वक पुष्ट है—व्याप्त है। इतना ही नहीं आप अपने शरीर की दीप्ति से उस चन्द्रमा को भी जीतते हैं जो कि अपनी ही कान्ति में निमग्न है तथा अतिशय सुन्दर या सब का मन भावन है ॥५॥

के पुनर्गुणा यद्भूषणं भगवान्दधातीत्याह—

त्वं जिन गतमदमाय-स्तव भावानां मुमुक्षुकामद मायः ।
श्रेयान् श्रीमदमाय-स्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥६॥

त्वमित्यादि—हे जिन ! कथंभूतस्त्वम् ? गतमदमायः मदो दर्पो माया वन्चना गते नष्टे मदमाये यस्य यस्माद्वा भव्यानां स गतमदमायः, यतएवमतएव हे जिन तव अस्ति, कोऽसौ ? मायः प्रमाणं केवल ज्ञान लक्षणमागमस्वरूपं वा, केषां सम्बन्धी ? भावनां जीवादिपरार्थानां, कथंभूतः ? मुमुक्षुकामद मुमूक्षूणां मोक्षप्रकाङ्क्षिणां कामद मोक्षलक्षणवान्छिनफलप्रद, किंविशिष्टो मायः ? श्रेयान् अतिशयेन प्रशस्यः, सकलबाधक रहितत्वात्, इत्थंभूतेन त्वया किं कृतं ? समादेशि कथितः, कोऽसौ ? श्रीमदमायः श्रियो मदः श्रीमद स्तस्य मायो नाशः मीङ् हिंसायामित्यस्य कृतात्वस्या यं प्रयोगः अथवा श्रीः हेयोपादेयतत्व परिज्ञानादिलक्षणा स्वर्गापवर्गादि प्रापकत्वलक्षणा वास्यास्तीति श्रीमान् सचासौ अमायश्च न विद्यते माया यस्येत्यमायो ऽनुष्ठानविशेषः तथा सप्रयामदमायः त्वया समादेशि, यमो व्रतं यम एव यामः स्वार्थिकोऽण् प्रकृष्टो यामः प्रयामः सह प्रयामेन वर्तते इति सप्रयामः स चासौ दमश्च इन्द्रिय जयः तस्याय मागमनम् ॥६॥

अन्वयार्थ----(मुमुक्षु कामद !) हे मोक्षाभिलाषी जीवों के मनोरथ को देने वाले (जिन !) वीर जिनेन्द्र ! (त्वं) आप (गतमदमायः) गर्व और माया से रहित हैं तथा (तव) आपका (भावानां) जीवादि पदार्थ विषयक (मायः) केवल ज्ञान अथवा आगम रूप प्रमाण (श्रेयान्) अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा प्रशंसनीय है। हे भगवान् ! (त्वया) आपने (श्रीमदमायः) लक्ष्मी के मद को नष्ट करने वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली श्रीलक्ष्मी से युक्त और माया से रहित (स प्रयाम द-मायः) श्रेष्ठ एवं प्रशस्त इन्द्रिय विजय का (समादेशि) उपदेश दिया है ।

भावार्थ—हे वीर जिन ! आप मद और माया तथा उपलक्षण से समस्त कषायों को नष्ट कर चुके हैं, मोक्ष को इच्छा रखते हुए जो भव्य जीव आपकी शरण में आते हैं आप उन्हें मोक्ष प्रदान कर उनके मनोरथों को पूर्ण करते हैं, जीवादि पदार्थ विषयक आपका प्रमाण–केवल ज्ञान अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा आपने भव्य जीवों को श्रेष्ट महाव्रत और इन्द्रिय दमन का उत्तम उपदेश दिया है ॥६॥

अपर मपि भगवतो गुणान् स्तोतुमाह—

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।

तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥७॥

गिरिभित्त्यादि—हे जिन ! तव गतं गमनं अर्जित मुदारमुत्कृष्टं, किं कुर्वतः ? अवतो रक्षतः, कान् ? शमवादान् शमो दोषाणा मुपसमः तस्य वादा स्तत्प्रतिपादका आगमस्तान्, पुनरपि कथंभूतस्य ? अपगत प्रमादानवतः प्रकृष्टा मा हिंसा प्रमा, अपगत नष्टा प्रमा अपगतप्रमा अहिंसा, अपगतप्रमाया दानमपगतप्रमा दानमभयदानं तदस्यास्तीत्यपगत प्रमादान वांस्तस्य दृष्टान्तमाह—श्रीमत इवेत्यादि—इव शब्दो भिन्नक्रमो दन्तिन इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः दन्तिन इव हस्तिन इव गत मित्यर्थः, कथंभूतस्य दन्तिनः ? श्रीमतः सर्वलक्षणोपेतस्य भद्रजातेः, पुनरपि कथंभूतस्य ? स्रवद्दानवतः स्रवच्च तद्दानं च मदः स्रवद्दानं तद्विद्यते यस्या सौ स्रवद्दान वांस्तस्य, अनेन स्यायत्तं तस्य गमनं प्रतिपादित, पुनरपि किं विशिष्टस्य ? गिरिभित्त्यवदानवतः गिरेः पर्वतस्य भित्तयः कटन्यस्तासामवदानं तद्विद्यते यस्यासौ गिरिभित्त्यवदानवांस्तस्य, अनेन महा सामर्थ्यं तस्य सूचितम् ॥७॥

अन्वयार्थ— हे भगवान् ! (गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमतः स्रवद्दानस्य दन्तिनः इव) जिस प्रकार पहाड़ की कटनीयों में पराक्रम से युक्त अर्थात् उनका विदारण करने वाले उत्तम जाति विशिष्ट तथा झरते हुए मद से सहित हाथी का (ऊर्जितं) बल शाली अर्थात रुकावट से रहित (गतं गमन होता है उसी तरह (शमवादान अवतः) दोषों के उपशमन का उपदेश देने वाले शास्त्रों के रक्षक तथा (अपगतप्रमादान वतः) अभयदान से युक्त (तव) आपका (अर्जितं) उत्कृष्ट (गतं) गमन-विहार हुआ था ।

भावार्थ—यहां हाथी का दृष्टान्त देते हुए भगवान् महावीर के विहार का वर्णन किया गया है जिस प्रकार हाथी अपने गमन में रुकावट डालने वाले पर्वतों की दीवालों को गण्डस्थल की टक्कर से चूर चूर कर आगे बढ़ता जाता है उसी प्रकार हे भगवान् आप भी अपने गमन में -(वस्तु)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्व के प्रतिपादन में रुकावट डालने वाले मिथ्या-दृष्टियों को अनेकान्त मत रूप वज्र के प्रहार से पराजित कर आगे बढ़ते जाते थे, जिस प्रकार हाथी श्रीमान् सर्व लक्षण संपन्न अथवा उत्तम जाति का होता है उसी प्रकार आप भी श्रीमान्-समवसरण रूप लक्ष्मी से युक्त थे, जिस प्रकार हाथी स-वदानवान्-झरते हुए मद जल से युक्त होता है उसी प्रकार आपभी स्ववदानवान्-दिये जाने वाले दानों से सहित थे, जिस प्रकार हाथी शमवादाअवतः- प्रेमपूर्ण मधुर शब्द बोलने वाले महावत आ-दि की रक्षा करता है उसी प्रकार आप भी शमवादान् अवतः- रागादि दोषों के शमन करने का उपदेश देने वाले शास्त्रों की रक्षा करते थे और जिस प्रकार हाथी अपगत प्रमादान् अवतः-प्रमाद रहित-सावधान रहने वाले मनुष्यों की रक्षा करता है उसी प्रकार आप भी अपगतप्रमादानवतः-हिं-सा रहित-अभयदान से युक्त थे जहां जहां आपका विहार होता था वहां वहां जीवों को अभय की प्राप्ति होती थी कोई किसी को मार नहीं सकता था। एवं जिस प्रकार हाथी का गमन ऊर्जित-ब-लिष्ठ-शक्ति संपन्न होता है-उसे कोई रोक नहीं सकता है इसी प्रकार आपका गमन-विहार भी ऊ-र्जित अत्यन्त उत्कृष्ट तथा स्वाधीन था, किसी की प्रेरणा से आपका विहार नहीं होता था और न किसी के रोकने पर रुकता था ।।७।।

अथ परकीयं मतं भवदीयं च मतं कीदृशमित्याह—

बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ।।८।।

बहुगुणेत्यादि—बहवश्च ते गुणाश्च सर्वज्ञत्व वीतरागत्वादयः तेषां संपत्संपत्तिस्तया असकलमसंपूर्णं परस्य मतं, अपि शब्दादितरमपीति सम्बन्धः । पुनरपि कथंभूतं परमतं ? मधुर वचन विन्यासकलं मधुराणि श्रुतिरमणीयानि तानि च तानि वचनानि च तेषां विन्यासो रचना तेन कलं मनोज्ञं । भवदीयं मतं कीदृशमित्याह—नयेत्यादि—हे देव ! तव मतं शासनं समन्तभद्रं समन्ताद् भद्रं निर्बाधत्वेन सर्वतः शोभनं समन्ताद्वा भद्राणि कल्याणानि यस्य यस्माद्वा भव्यानां तत्तथोक्तं, किं किञ्चित्तथा भविष्यतीत्याह—सकलं समस्तं, पुनरपि कथंभूतमित्याह—नयभक्त्यवतंसकलं नया नैगमादयः तेषां भक्तयः स्यादस्तीत्यादिभङ्गाः सेवा वा, ताएवावतंसकं कर्णभूषणं तल्लातीति नयभक्त्यवतसकलमिति ।

यो निःशेष जिनोक्तधर्मविषयः श्री गौतमाद्यैःकृतः
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
तद्व्याख्यानमदो यथावगमतः किंचित्कृतं लेशतः
स्थेयाच्चन्द्रदिवाकरावधि बुधप्रह्लादि चेतस्यलम् ।। १

---

१ चैतस्यदः ख.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति श्री प्रभाचन्द्रविरचितायां क्रिया कलापटीकायां गौतमादि समन्तभद्र स्तुति विवरणो नाम द्वितीय परिच्छेदः

श्रीरस्तु कल्याणमस्तु

अन्वयार्थ---(हे देव !) हे वीर जिन देव ! (परमतं) अन्य एकान्त वादियों का शासन (मधुर-वचन विन्यासकलम् अपि) कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी (बहुगुण सम्पदसकलं) अत्यधिक गुण रूप सम्पत्ति से विकल है परन्तु (तव) आपका (मतं) शासन (नय भवत्यवतंसकलं) नैगमादि नयों से उत्पन्न स्यादस्तीत्यादि भङ्ग रूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा नयों की उपासना रूप कर्णाभरण को देने वाला है, (समन्तभद्रं) सब ओर से कल्याण कारक है और (सकलं) पूर्ण है ।

भावार्थ----यहां भगवान् वीर जिनेन्द्र के अनेकान्त मत तथा कपिल सुगतादि के एकान्तमतों की तुलना करते हुए समन्त भद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! यद्यपि अन्यमत मधुर वचनों के कलापूर्ण विन्यास से प्रिय है—श्रवण करने में अच्छे लगते हैं तथापि सत्यशासन के योग्य जो यथार्थ वादिता परहित करिता आदि गुण हैं उनसे विकल हैं परन्तु आपका मत नयों से उत्पन्न सप्त भङ्गो रूप आभूषणों से मनोज्ञ है नयों के प्रयोग से विभिन्न विभिन्न अभिप्राय रखने वाले श्रोताओं के लिये प्रिय है अथवा नयों की उपासना से युक्त है, परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादक होने से सकल है–पूर्ण है और समन्तभद्र–सब ओर से कल्याण करने वाला है । यहां 'समन्तभद्र' इस श्लेषात्मक पद द्वारा ग्रन्थकर्ता ने अपने समन्त भद्र नाम की सूचना दी है ॥८॥

इति श्रीवीरजिनस्तवनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रंथप्राप्ति का स्थान

श्री शांतिवीरदिगम्बर जैनसंस्थान

पो० शांतिवीरनगर (श्री महावीरजी) राज०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi